MAST-114 (N)
काव्यशास्त्र

खण्ड–ग
काव्यप्रकाश

MAST-114 (N)
काव्यशास्त्र

परामर्श–समिति

आचार्य सत्यकाम	मा0 कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
आचार्य सत्यपाल तिवारी	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विषेषज्ञ समिति

सम्पादक

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त	आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

परिमापक / समन्वयक

डॉ0 स्मिता अग्रवाल	सहायक आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 स्मिता अग्रवाल	सहायक आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

मुद्रित–(माह), वर्ष

© उत्तर प्रदेष राजर्षि टण्डन मुक्त विष्वविद्यालय, प्रयागराज–(वर्ष) ISBN-

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, (माह) (वर्ष), (मुद्रक का नाम व पता)

काव्यशास्त्र

खण्ड–ग काव्यप्रकाश

पाठ्यक्रम

इकाई–9	दोष का सामान्य स्वरूप / लक्षण तथा पदगत दोष
इकाई–10	अर्थदोष
इकाई–11	वाक्यगतदोष
इकाई–12	रसदोष
इकाई–13	गुणों का सामान्य लक्षण आदि

MAST-114
काव्यशास्त्र
(काव्यप्रकाश)

पाठ्यक्रम एवं खण्ड परिचय

पूर्व में इस प्रश्नपत्र के पाठ्यक्रम में आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश का प्रथम से चतुर्थ उल्लास तक का अध्ययन ही प्रस्तावित था। वर्तमान में इस प्रश्नपत्र में काव्यप्रकाश के सप्तम तथा अष्टम उल्लास में निहित कुछ महत्त्वपूर्ण गुण–दोषों को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है।

खण्ड 'ग' में मम्मटकृत काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में काव्य के दोषों तथा अष्टम उल्लास में काव्य के गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस खण्ड में काव्यप्रकाश में वर्णित मुख्य दोषों तथा मुख्य गुणों का अध्ययन किया जाएगा। इस खण्ड में 05 इकाइयाँ है जिनमें से प्रथम चार इकाइयों में दोष के सम्बन्ध में तथा पाँचवीं ईकाई में गुण का अध्ययन प्रस्तावित है।

इकाई–9 दोषों का सामान्य स्वरूप/लक्षण तथा पदगत–दोष

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 'अदोषौ' पद की आलोचना

9.3 दोषों का सामान्य लक्षण

9.3.1 दोषों का विशेष लक्षण

9.4 पदगतदोष

9.4.1 श्रुतिकटु

9.4.2 च्युतसंस्कार

9.4.3 अप्रयुक्त

9.4.4 अनुचितार्थ

9.4.5 ग्राम्य

9.4.6 क्लिष्ट

9.4.7 अविमृष्टविधेयांश

9.4.8 विरुद्धमतिकृत्

9.5 समासगत श्रुतिकटु

9.0 उद्देश्य

- काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में वर्णित काव्य–दोषों का सामान्य स्वरूप एवं लक्षण जान सकेंगे।
- 'अदोषौ' पद की समीक्षा कर सकेंगे।
- पदगतदोषों के लक्षण एवं उदाहरण जान पाएँगे।
- दोषों के नित्यत्व एवं अनित्यत्व को जान पाएँगे।

9.1 प्रस्तावना

काव्य–सौन्दर्य के मानक तत्त्वों तथा काव्य–सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्वों जैसे–गुण एवं अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि की विवेचना वाले करने वाले शास्त्र को काव्यशास्त्र कहते हैं। इसी काव्यशास्त्रीय

परम्परा ग्रन्थों में मम्मटकृत काव्यशास्त्र को एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। आचार्य मम्मट ने समन्वयकारी दृष्टि रखते हुए अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में पूर्ववर्ती सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों के सिद्धान्त को उचित स्थान प्रदान किया है।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में भी सभी पूर्ववर्ती आचार्यों यथा दण्डी, वामन, भामह आदि के काव्यलक्षण का समन्वय करते हुए एक नवीन काव्य लक्षण **"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"** दिया है। काव्यप्रकाश के दसों उल्लासों में मम्मट के इसी काव्यलक्षण की व्याख्या की गई है। प्रथम चार उल्लासों में हमने मङ्गलाचरण, अनुबन्ध चतुष्टय, काव्य के प्रयोजन, उपदेश की त्रिविध शैली, काव्य के हेतु, काव्य–लक्षण, विश्वनाथकृत आलोचना–खंडन, काव्य–भेद, शब्दार्थ–स्वरूप, संकेतग्रह, अभिधालक्षण, लक्षणालक्षण एवं भेद, अर्थ के भेद, ध्वनि निर्णय, रस निरूपण, रस के चारों मौलिक सिद्धान्त, रसों का क्रम आदि का अध्ययन किया है। इकाई–9 (सप्तम उल्लास) में दोष के लक्षणों एवं उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

9.2 'अदोषौ' पद की आलोचना

काव्यप्रकाश में मम्मट ने अपने काव्य–लक्षण में शब्द और अर्थ के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' दिये हैं, आचार्य विश्वनाथ ने अनेक तर्कों के माध्यम उनका खण्डन किया है। विश्वनाथ का मानना है कि सर्वथा दोषरहित काव्य मिल पाना असंभव है। यदि सर्वथा दोषरहित काव्य यदि मिल भी जाए तो इसकी संख्या अत्यधिक न्यून ही होगी। आगे तर्क देते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि ध्वनि काव्य होने पर उत्तम काव्य की श्रेणी में रखे जाने पर भी 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरथः' नामक श्लोक भी 'विधेयाविमर्श' दोष प्राप्त होने पर उत्तम काव्य की श्रेणी में तो क्या, सामान्य काव्य की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकेगा। पुनः आचार्य कहते हैं कि काव्य के जिस अंश में दोष हो उसे अकाव्य तथा जिस अंश में ध्वनि हो उसे उत्तम काव्य मानने पर खींचातानी हो जायेगी, काव्य–अकाव्य कुछ भी नहीं रह जाएगा। अतः 'अदोषौ' पद काव्य–लक्षण में उचित नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ के खण्डन के समाधान के रूप में यह समझना चाहिए कि काव्य के जो विघातक दोष हैं अर्थात् जो प्रबल दोष है जिनसे रसानुभूति में बाधा उत्पन्न होती है, वही दोष कहा जाता है और काव्य में निहित शब्द और अर्थ को इन दोषों से रहित होना चाहिए। जैसे–'दुःश्रवत्व' दोष करुण, श्रृंगार आदि कोमल रसों की अनुभूति में बाधक होने पर दोष बन जाता है, परन्तु वीभत्स, वीर तथा भयानक आदि रसों में 'दुःश्रवत्व' रसानुभूति में बाधक नहीं अपितु साधक बन जाता है। मम्मट का आशय है कि साधारण स्थिति में दुर्बल दोष होने पर काव्यत्व में हानि नहीं होती है। विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में स्वीकार किया है कि साधारण दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

अर्थात् कीड़ों से खाया हुआ प्रवाल (मूँगा) आदि रत्न (कीड़े के खाने पर भी) रत्न ही कहलाता है। इसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है, वहाँ दोष के होते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

जिस दोष के होते हुए भी रसानुभूति में बाधा नहीं होती है, वह दोषमुक्त काव्य भी काव्य ही है। इसलिए 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरथः' में विधेयाविमर्श दोष होने पर भी रसानुभूति में बाधा उत्पन्न नहीं हो रही है, इसलिए वह ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

9.3 दोषों का सामान्य लक्षण

'काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह'।

दोषों का सामान्य लक्षण बताने के बाद काव्यप्रकाशकार दोषों का विशेष लक्षण बताते हैं। मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है वही दोष कहा जाता है। मुख्यार्थ का आशय यहाँ वाच्यार्थ से नहीं है अपितु रस से है।

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।49।।

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ पद का अभिप्राय यहाँ वाच्चार्थ न होकर रस है और रस मुख्य (अर्थ) है। इसलिए रस का अपकर्ष करने वाले कारण को दोष कहते हैं। रस का

आश्रय वाच्यार्थ होता है, इसलिए वह भी मुख्य अर्थ है। इस प्रकार रस के साथ वाच्य अर्थ का अपकर्ष करने वाला कारण भी दोष कहलाता है। उसे अर्थदोष कहते हैं। शब्दादि रस तथा वाच्य अर्थ दोनों के बोधन में सहायक (उपकारक) होता है। इसलिए जब शब्दादि में भी दोष रहता है तो वह पददोष कहलाता है।

हतिरपकर्षः। शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने।

उपरोक्त कारिका में प्रयुक्त हुए 'हति' शब्द का अर्थ यहाँ विनाश न होकर अपकर्ष है। 'शब्दाद्याः' आद्य पद के ग्रहण से यहाँ वर्ण और रचना का बोध (ग्रहण) होता है।

9.3.1 दोषों का विशेष लक्षण

आगे कारिका में मम्मट दोषों का विशेष लक्षण बताते हैं।

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।।50।।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव।।51।।

(1) श्रुतिकटु, (2) च्युतसंस्कार, (3) अप्रयुक्त, (4) असमर्थ, (5) निहतार्थ, (6) अनुचितार्थ, (7) निरर्थक, (8) अवाचक, (9) तीन प्रकार का अश्लील, (10) सन्दिग्ध, (11) अप्रतीत, (12) ग्राम्य, (13) नेयार्थ—ये सभी दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकार के होते हैं। (14) क्लिष्ट, (15) अविमृष्टविधेयांश, (16) विरुद्धमतिकृत्—ये तीनों दोष केवल समास में ही होते हैं।

9.4 पदगत दोष

9.4.1 श्रुतिकटु

श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं।

कठोर वर्ण के रूप में दुष्ट पद जो रसापकर्षक होते हैं श्रुतिकटु कहलाते हैं।

उदाहरण—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः।
आलिङ्गितयतः स तन्वङ्गया कार्तार्थ्यं लभते कदा।।

अर्थात् कामदेव के मङ्गलगृहरूप कटाक्षों की परम्परा से उमङ्गयुक्त कृशाङ्गी से आलिङ्गित वह (युवा)। कब कृतार्थता को प्राप्त होगा। इस श्लोक में 'कार्तार्थ्य' पद कठोर है, उसमें श्रुतिकटु दोष है।

9.4.2. च्युतसंस्कार

च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं।

व्याकरण के नियमों के अनुकूल न होने पर अर्थात् जो पद व्याकरण के संस्कारों से हीन होता है, उस पद में च्युतसंस्कार दोष होता है।

उदाहरण—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर—
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते।
तत् पल्लीपतिपुत्रि! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना—
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुंग पत्रावृतं मा कृथाः।।

अर्थात् हे भीलों के छोटे से ग्राम की स्वामी की पुत्री! यह (तुम्हारा स्तन) थोड़े पके हुए तेंदू (तिन्दुक) के फल के समान बीच में काला और चारों ओर सफेद (गौरवर्ण), शबर युवक के मर्दन (स्पर्श) करने योग्य दिखायी दे रहा है यह बड़े आनन्द की बात है। इसलिए अपने गण्डस्थल के अभयदान की प्रार्थना से अत्यन्त नम्र होकर हाथियों का समूह तुमसे भीख माँगता है कि तुम इस स्तनयुगल को पत्तों से मत आवृत करो।

इस श्लोक में हाथियों का समूह युवती से प्रार्थना कर रहा है कि अपने स्तनों को पत्तों से मत ढ़को क्योंकि शबरयुवक हाथियों के गण्डस्थल के भेदन को भूलकर स्तनों को देखकर उसके स्पर्श आदि में संलग्न हो जाएगा जिससे हाथियों के समूह को कुछ समय के लिए अभयदान मिल जाएगा।

इस श्लोक में याचना के अर्थ में 'अनुनाथते' पद का प्रयोग किया है जबकि 'नाथ' परस्मैपदी धातु होने से 'अनुनाथति' पद का प्रयोग शुद्ध होता। इसलिए आत्मनेपदी धातु का प्रयोग होने के कारण 'च्युतसंस्कार' दोष है।

'आशीः' अर्थ में नाथ धातु का प्रयोग आत्मनेपदी में किये जाने का विधान है। याचना अर्थ में परस्मैपदी धातु का प्रयोग किया जाता है।

9.6.3 अप्रयुक्त

'अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम्'।

कोश ग्रन्थों में उस अर्थ में पड़ा होने पर भी कवियों द्वारा न अपनाया हुआ (शब्द प्रयोग) अप्रयुक्त (दोष) है। जैसे–

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा।।

यह आदमी तो हर समय भयङ्कर आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इससे प्रतीत होता है कि इस (व्यक्ति) का उपास्यदेवता राक्षस या पिशाच है।

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानिपुंसि वा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित् प्रयुज्यते।

यहाँ 'दैवतानि पुंसि वा' में दैवत शब्द में पुल्लिंग होता है परन्तु अमरकोश आदि में भी पठित होने पर किसी महाकवि के द्वारा इसका पुल्लिंग में प्रयोग नहीं किया गया है। इसलिए यहाँ अप्रयुक्त दोष है।

9.4.4 अनुचितार्थ

उदाहरण–

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः।।

अनुचित प्रयोग को अनुचितार्थ दोष कहा जाता है। वर्णन के अनुरूप ही प्रयोग किये जाने चाहिए। उदाहरणस्वरूप उपरोक्त श्लोक का अर्थ है कि ज्ञानकाण्ड के अनुयायी तपस्वी लोग अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद जिस मोक्ष रूपी गति को प्राप्त करते हैं, और कर्मकाण्ड के अनुयायी याज्ञिक लोग प्रयत्नपूर्वक यज्ञों के माध्यम से जिसे प्राप्त करना चाहते हैं उस यद्धरूपी अश्वमेध यज्ञ में पशुओं की तरह मारे गये और संसार में यश प्राप्त करने वाले लोग तुरन्त ही उस गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

'अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम्'।

अर्थात् यहाँ पशुपद (मारे जाने वाले की) कातरता का व्यञ्जक है इसलिए वीरता के वर्णन में इसका प्रयोग अनुचितार्थ है।

9.4.5 ग्राम्यं

ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्।

जिस शब्द का केवल लोक में प्रयोग किया जाता है, वह ग्राम्य होता है। जैसे–

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम्।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः।।

अर्थात् पूर्णिमा के चन्द्रमा ने जिससे कान्ति प्राप्त की है अथवा जिसने पूर्णिमा के चन्द्रमा से कान्ति प्राप्त की है, इस प्रकार का तुम्हारा मुख और सोने की शिला के समान सौन्दर्यवाली तुम्हारी कमर मेरे मन को मुग्ध कर रही है।

अत्र कटिरिति–

यहाँ कटि (कमर) शब्द ग्राम्य है। इसका प्रयोग दोषपूर्ण है।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च। **अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च।**

'अथ' का 'समासगतमेव' के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् पूर्व में कहे हुए अन्य श्रुतिकटु आदि दोष केवल (असमस्त) पद में और समस्तपद अर्थात् समस्तगत दोनों प्रकार के पददोष होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अभी तक बताए गये दोष असमस्तपद में तथा समस्तपद दोनों में ही पददोष माने जाते हैं किन्तु आगे आने वाले क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत ये तीनों दोष समासरहित एक पद में नहीं होते हैं। ये तीनों दोष समासगत या फिर वाक्यगत होते हैं। अर्थात् अकेले एक पद में न होकर पदसमूह में रहते हैं। यह पदसमुदाय–समस्तपदरूप भी हो सकता है और वाक्यरूप में भी हो सकता है। साहित्यदर्पणकार तथा वामन ने इनको केवल समासगत दोष न मानकर पदगत तथा वाक्यगत दोष भी माना हैं।

9.4.6 क्लिष्ट

क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता।

क्लिष्टं नामक दोष होने पर अर्थ की प्रतीति सीधे न होकर व्यवधान से (अवरोधपूर्ण) होती है। जैसे–

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल! तव चेष्टितम्।।

हे राजन! आपका चरित्र अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति अर्थात् चन्द्रमा के उदय से खिलने वाले (कुमुदों) के समान शोभित हो रहा है।

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः।

इस श्लोक में अर्थ में क्लिष्टता है। अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न चन्द्रमा की ज्योति में खिलने वाले कुमुद के समान आपका चरित्र है–इसका अर्थ सीधा न निकल कर व्यवधानपूर्ण है, अतः यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

क्लिष्ट दोष के बाद 'अविमृष्टविधेयांश' दोष आता है। प्रत्येक वाक्य के दो भाग–उद्देश्यभाग तथा विधेयभाग होते हैं। इसमें विधेय भाग की प्रधानता मानी जाती है। प्रत्येक वाक्य के निर्माण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी प्रधानता बनी रहे। जिस वाक्य में विधेयांश का महत्त्व नहीं होता तथा वाक्य की रचना असावधानी से कर दी जाती है उसमें अविमृष्टविधेयांश दोष हो जाता है।

9.4.7 अविमृष्टविधेयांश

अविमृष्ट प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्।

अविमृष्टविधेयांश जहाँ विधेयांश का विचार नहीं किया गया अर्थात् प्राधान्यनिर्देश नहीं किया गया वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है।

जैसे–

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलद्रक्तसंसक्तधारा
धौतेशाङ्धिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्याभहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः।।

हनुमान्नाटक के आठवें अङ्क में भगवान श्रीराम की सेना के द्वारा लंका को घेर लेने पर उसकी रक्षा का प्रयत्न करने के मंत्रियों के परामर्श देने पर रावण कहता है–

'औद्धत्यपूर्वक निरन्तर काटे गए अर्थात् एक के बाद एक दूसरे गले से लगातार बहती हुई (अविच्छिन्न) रक्तधारा से धोये हुये शिवजी के चरणों की कृपा से प्राप्त विजय के वरदान से संसार में मिथ्या महत्त्व को प्राप्त हुए मेरे इन (दस) सिरों का और कैलास को उठाने की इच्छा के आवेश के सूचक उत्कट अभिमान से गर्वित मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है कि इस नगरी की रक्षा में मुझे प्रयास करना पड़े।'

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्, अपि तु विधेयम्।

इस श्लोक में मिथ्यामहिमाशालित्व उद्धेश्य न होकर विधेय है। इसलिए उसकी प्रधानता की रक्षा के लिए उसमें समास नहीं होना चाहिए। समास होने के कारण उसकी प्रधानता नष्ट हो गई है जिससे यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष आ गया है।

यह श्लोक में 'मिथ्यामहिमाशालित्व' में बहुब्रीहि समास होने से अविमृष्टविधेयांश दोष का उदाहरण है। 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग से उद्घृत अगले श्लोक में कर्मधारय समास के द्वारा 'अविमृष्टविधेयांश' दोष का उदाहरण दिया गया है। इसमें कवि पार्वती का वर्णन करते हुए कहता है–

स्रस्तां नितम्वादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य।।

अथवा जैसे–

(धरोहर को रखने के) उचित स्थान को पहचानने वाले कामदेव के द्वारा (पार्वती के नितम्बस्थल के पास) धरोहर के रूप में रखी हुई (अपने) धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा के समान मौलश्री के फूलों की मालारूप, और नितम्बों पर से (बार–बार) खिसक पड़ने वाली करघनी को बार–बार चढ़ाती हुई (पार्वती दिखलायी दीं)।

यहाँ (मौर्वी के) द्वितीयत्वमात्र की उत्प्रेक्षा है, इसलिए वह विधेय है। जिसमें समास कर दिया गया जिसके कारण यहाँ दोष उत्पन्न हो गया है। यहाँ 'मौर्वी द्वितीयां' यह पाठ होने पर यहाँ दोष नहीं होता। यथा वा अथवा जैसे–समासगत अविमृष्टविधेयांश का अन्य उदाहरण।

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितुं वसु।
वरेषु यद बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।।
अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम्।

हे मृगशावक के समान नेत्रवाली, (जिस शिव की प्राप्ति के लिए इतना कठोर तपश्चरण कर रही हो उनका) शरीर तीन नेत्रवाला (विरूपाक्ष) है, उनके जन्म का कोई पता नहीं और (दरिद्रता के कारण) नग्नता से ही उसके धन की सूचना मिल जाती है। (तो फिर) वरों में जो (रूप, कुल तथा धन) देखा जाता है उनमें से कोई एक भी गुण तीन आँख वाले (शिव) में है? (जो तुम उसके लिए व्याकुल हो रही हो)।

यहाँ (समस्तपद के स्थान पर) 'अलक्षिता जनिः' यह (व्यस्त) कहना चाहिए।

शिव जी के जन्म के विषय में कुछ भी ज्ञात न होने के कारण अलक्ष्यता विधेय है। इसलिए 'अलक्ष्यता' पद को समास में रखने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है। यहाँ बहुब्रीहि समास है।

नञ् समास में अविमृष्ट विधेयांश दोष का उदाहरण इस प्रकार है–

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्तसन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्तातान्ति तनोति तव सम्प्रतिधिग् धिगस्मान्।।
अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः।

अर्थात्–जो आपके लिए (कभी अर्थात् पहले) आनन्द की सागर थी, और आपके अत्यन्त चञ्चल चित्त को बाँध रखने का मात्र स्थान थी, जिसको आप एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते थे, आज उसके समाचार जानने की चिन्ता आपको हर समय क्लेश देती रहती है। इससे हम लोगों को बार–बार धिक्कार है।

निषेध के अर्थ में नञ् दो प्रकार का होता है–

1. प्रसज्यप्रतिषेध नञ् तथा
2. पर्युदास नञ्

जहाँ निषेध की प्रधानता होती है वहाँ 'प्रसज्यप्रतिषेध' होता है और जहाँ प्रतिषेध (निषेध) की अप्रधानता में सदृश पदार्थ के बोध के लिए ' पर्युदास' होता है–

द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्।।

ऊपर दिये गये उदाहरण में 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है इसलिए यहाँ समासरहित प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का ही प्रयोग होना चाहिए था परन्तु 'अमुक्ता' पद से समास करके पर्युदास नञ् बना देने से यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष उत्पन्न हो गया। समस्त (समास किये हुए) 'अमुक्ता' पद का प्रयोग दोषपूर्ण है।

नञ् का समास होने पर नञ् का 'प्रसज्यप्रतिषेध' वाला रूप समाप्त होकर पर्युदासात्मक रूप हो जाता है।

प्रसज्यप्रतिषेध में प्रतिषेध की प्रधानता होती है तथा क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध होता है –

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।

जबकि पर्युदास में प्रतिषेध की प्रधानता नहीं रहती और नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध न होकर उत्तरपद के साथ सम्बन्ध रहता है–

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।

9.4.8 विरुद्धमतिकृत्

किसी विशेष समस्त पद के प्रयोग द्वारा अर्थ विपरीत अर्थ देने लगे तो वहाँ विरुद्धमतिकारी दोष होता है। उदाहरण–

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे।।

अर्थात्–चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल (निर्दोष) व्यवहार करने वाला और निःस्वार्थ मित्र वह एक ही है अर्थात् अद्वितीय है। उसका क्या वर्णन किया जाए।

इस स्थान पर बिना किसी कार्य अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ वाला अर्थात् 'निःस्वार्थ मित्र' यह अर्थ विवक्षित है। परन्तु 'अकार्यमित्र' पद से 'अकार्य' पद बुरे काम के अर्थ को प्रतीत कराता है। अतः यहाँ विरुद्धमतिकृत दोष है। इसी प्रकार–

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम्।।
अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम्।

अर्थात्–बहुत दिनों के बाद मिले हुए, नेत्रों को आनन्द देने वाले पति के गले में पत्नी तुरन्त ही लिपट जाती है।

इस उदाहरण में 'गलग्रहम्' के स्थान पर 'कण्ठग्रहम्' का प्रयोग किया जाना चाहिए था। गलग्रहम् पद से गला दबोच लेना, गले से पकड़ कर निकाल देना आदि अनिष्ट अर्थों की प्रतीति होने से विरुद्धमतिकृत् दोष है।

क्लिष्टत्व, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् ये तीनों दोष समासगत ही होते हैं जबकि श्रुतिकटु आदि अन्य दोष पदगत एवं समासगत दोनों होते हैं। श्रुतिकटु आदि के पदगत दोष के उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। अतः यहाँ मात्र प्रतीकात्मक रूप से श्रुतिकटु का समासगत उदाहरण दे रहे हैं।

9.5 समासगत श्रुतिकटु

सा दूरे सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना।
बर्हिनिर्ह्लादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः।।

अर्थात्–अमृत की भरी (तरङ्गि) उज्ज्वल नेत्रवाली वह (सीता) दूर है और मयूरों के केकारवका कराने वाला यह (वर्षा का) समय आ गया है।

यहाँ बर्हिनिर्ह्लादनार्ह यह समस्त पद श्रुतिकटु है। इसी प्रकार अन्य दोषों के समासगत उदाहरण भी माने जाएँगे।

•

इकाई–10 वाक्यगत दोष

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 वाक्यगतदोष
10.3.1 प्रतिकूलवर्णता
10.3.2 विसन्धि
10.3.3 हतवृत्तता
10.3.4 न्यूनपदता
10.3.5 कथितपदता
10.3.6 पतत्प्रकर्षता
10.3.7 प्रसिद्धिविरुद्धता
10.3.8 भग्नप्रक्रमता

10.1 उद्देश्य

- काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में वर्णित काव्य–दोषों के अन्तर्गत वाक्यगत दोषों का अध्ययन कर सकेंगे।
- वाक्यगत दोषों के अन्तर्गत अनेक दोषों का लक्षण जान सकेंगे।
- वाक्यगत दोषों को उदाहरण द्वारा समझ सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने सप्तम उल्लास में वर्णित दोष–प्रकरण के अन्तर्गत पद, वाक्य तथा पदैकदेश में रहने वाले 16 सामान्य दोषों के निरुपण करने के बाद केवल वाक्य में ही रहने वाले 20 दोषों का निरुपण किया है। इन सभी 20 दोषों के नाम इस प्रकार हैं–

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्तमयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।।
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।

(1) प्रतिकूलवर्णता, (2) उपहतविसर्गता, (3) विसंधि, (4) हतवृत्तता, (5) न्यूनपदता, (6) अधिकपदता, (7) कथितपदता, (8) पतत्प्रकर्षता, (9) समाप्तपुनरात्तता, (10) अर्थान्तरैकवाचकता, (11) अभवन्मतसम्बन्ध, (12) अमतयोग, (13) अनभिहितवाच्यता, (14) अस्थानपदता, (15) अस्थानसमासता, (16) सङ्कीर्णता, (17) गर्भितता, (18) प्रसिद्धिविरोध, (19) भग्नप्रक्रमता, (20) अक्रमता, (21) अमरार्थता ये वाक्यदोष होते हैं। इन सभी दोषों में से अधोलिखित दोषों का अध्ययन इस प्रश्नपत्र में प्रस्तावित है।

10.3 वाक्यगत दोष

10.3.1 प्रतिकूलवर्णता

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम्।

रसों के अनुरूप वर्णों का प्रयोग न होने पर अर्थात् रसों के अनुरूप जिस प्रकार के वर्णों का प्रयोग उचित माना गया है, उनके विपरीत वर्णों के प्रयोग होने पर प्रतिकूलवर्ण नामक वाक्यदोष होता है।

10.3.1.1. श्रृंगार रस के उदाहरण में

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठयाः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर।।

अर्थात् हे कलकण्ठि! (नायिका की सखी जा दूती का काम कर रही है) प्रबल उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझको थोड़ी देर के लिए शङ्ख के समान अर्थात् उतार–चढ़ाव से युक्त गर्दन वाली (कम्बुकण्ठ वाली प्रियतमा) के कण्ठालिङ्गन करने का अवसर दो और (इस प्रकार मेरे गले में) अटके हुए प्राणों (कण्ठ के क्लेश) को बचाओ।

श्रृङ्गाररस में श्रुतिकटु होने से टवर्ग का प्रयोग वर्जित माना गया है। अष्टम उल्लास में वर्णित गुण प्रसंग में मम्मट ने सूत्र के माध्यम से स्पष्ट लिखा है–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
आवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

इस सूत्र द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि अटवर्गी (ट, ठ, ड, ढ़) को छोड़ कर शेष स्पर्श वर्ग माधुर्य के व्यज्जक होते हैं। इसलिए ऊपर दिये गये श्रृंगार के प्रसंग में टवर्ग के संयोजन के कारण (प्रतिकूल वर्णों के प्रयोग के कारण) प्रतिकूलता दोष है।

10.3.1.2 रौद्र रस के उदाहरण में

देशः सोऽडयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् हृदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोधनः।
अत्र हि विकट वर्णत्वं चोचितम्।

अर्थात् यह (कुरुक्षेत्र का मैदान) वही देश है, जिसमें (परशुराम) ने शत्रुओं के रक्तरूप–जल से तालाबों को भर दिया था, और क्षत्रिय द्वारा पिताजी के केशों का पकड़ा जाना उसी प्रकार का अपमान है (जैसा कि कार्तवीर्य अर्जुन ने परशुराम के पिता जामदग्न्य के केश पकड़कर किया था) और (अपने विरोध में) शस्त्र उठाने वाले शत्रु को खा जाने वाले (घस्मर) वे ही उत्तम (गुरूणि) शस्त्र मेरे पास हैं। इसलिए (समस्त) क्षत्रियों का विनाशरूप जो (कार्य उस समय) परशुराम ने किया था, उसी को आज क्रुद्ध हुआ द्रोण का पुत्र (मैं या अश्वत्थामा) कर (ने जा) रहा है।

ऊपर दिये गये प्रतिकूलवर्णता दोष के रौद्र रस के उदाहरण में कवि ने न तो लम्बे समासों का प्रयोग किया, न ही कठोर वर्णों का जबकि रौद्र रस में विकट (कठोर) वर्णों तथा दीर्घ समासों का प्रयोग उपयुक्त माना जाता है। इसलिए यहाँ प्रतिकूलवर्णता दोष है।

10.3.2 विसन्धि

विसन्धि नामक वाक्यदोष में जहाँ सन्धि होनी चाहिए, वहाँ सन्धि का ना होना विसन्धि दोष कहलाता है।

विसन्धि सन्धैर्वैरूप्यम्, विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।

सन्धि वैरूप्य अर्थात् सन्धि स्थल में सन्धि न होने के तीन कारण माने जाते हैं–विश्लेष, अश्लीलता और कष्टता।

10.3.2.1 विश्लेष

पहले कारण विश्लेष में सन्धिस्थल पर सन्धि करना या ना करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। अन्य, दोनों कारण शास्त्रीय नियमों के अधीन हैं। एक में तो प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण सन्धि नहीं होती तथा दूसरे में विसर्ग का लोप होने पर गुण आदि रूप सन्धि प्राप्त होती है परन्तु सन्धि करने पर छन्दभङ्ग हो जाता है। इसलिए यहाँ सन्धि नहीं की गई है। इसमें कवि की अशक्ति दिखलाई पड़ती है अतः यहाँ विसन्धि दोष है। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

राजन्! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः।।

अर्थात् हे राजन्! आपके वे (लोकोत्तर) चरित्र जो रसातल (के गहन अन्धकार) में भी चन्द्रमा के समान (प्रकाशमान) कान्ति को धारण करते हैं, अत्यन्त शोभित होते हैं और आपके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उचित कार्य में लगे बुद्धिबल तथा बाहुबल दोनों विजयसम्पत्ति का विस्तार करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं।

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'तानि इन्दोः' इस स्थान पर ऐच्छिक 'विश्लेष' अथवा 'संध्यभाव' विसंधिरूप दोष है साथ ही साथ उत्तरार्द्ध में 'धीदोर्बले अतितते' 'अतितते उचितानुवृत्ती' और 'उचितानुवृत्ती आतन्वती' में 'ईदूदेद्द्विवचन प्रगृह्यम्' (1.1.11) के अनुसार द्विवचनरूप प्रगृह्यसंज्ञक का प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (6.1.125) के अनुसार 'प्रकृतिवद्भाव' होने से ज्यों का त्यों रहना प्राप्त हो रहा है। तीनों स्थानों पर संधिविश्लेष अथवा सन्धि का अभाव है, जो कवि की अशक्ति का परिचायक है। अतः यहाँ विसन्धि नामक दोष है। अपनी इच्छा से सन्धि न करने पर असिद्धि–मूलक सन्धि विश्लेष नामक विसन्धि दोष होता है।

10.3.2.2 अश्लीलताजन्य विसन्धि दोष

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।
अयमुत्तपते पत्त्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु।।

अर्थात् 'अरी सखि! जब तक यह पक्षी (बाज) वेग से उड़कर आकाश में विचरण करते हुये विकट दृश्य उपस्थित कर रहा है और अपने गर्व में चूर है तब तक यही अच्छा है कि यहीं इसी स्थान पर तू ठहर जा।'

यहाँ 'चलन् + डामर + चेष्टितः' और 'रुचिम् + कुरु' में 'चलण्डामरचेष्टितः' और 'रुचिङ्कुरु' रूप सन्धि में 'शिश्नेन्द्रिय' और 'योनि' रूप अश्लील अर्थ क्रमशः अभिव्यक्त हो रहे हैं जिससे अश्लीलत्व नामक विसन्धि दोष हो रहा है।

10.3.2.3 कष्टताजन्य विसन्धि दोष

सन्धि के कारण उत्पन्न कष्टता का उदाहरण देते हैं–

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।
नात्रार्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक्।।

अर्थात् 'यहाँ मरुदेश के मध्य में (अन्ते) यह विस्तीर्णा (उर्वी) एवं सुन्दर स्थितिवाले वृक्षों की पंक्ति है। यहाँ सीधे (खड़े होकर) चला नहीं जा सकता है इसलिए तनिक सिर झुका लो।

अत्र 'उर्व्यसौ' इत्यादि संधेः श्रुतिकटुत्वरूपं कष्टत्वम्।
अत्र तरुश्रेण्या विशेषणविशेष्यभावेनान्वयाद्वाक्यदोषता।
अत्र दूषकताबीजं पददोषप्रस्तावे, उक्तम्।

इस श्लोक में उर्वी + असौ, तरु + आली, मरु + अन्ते, चारु + अवस्थितिः, अत्र + ऋजु इन पदों में सन्धि होकर श्लोक का जो प्रकृत पाठ बन गया है, वह सुनने और अर्थज्ञान दोनों में ही कष्टदायक है। अतः यहाँ सन्धि के कारण कष्टसन्धि का उदाहरण है।

10.3.3 हतवृत्तता

हतवृत्तता नामक वाक्यगत दोष तीन प्रकार का होता है।

हतं लक्षणाऽनुसरणोऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्।

'हतवृत्तता' का अभिप्राय है ऐसी वृत्तरचना का होना जो कि (छन्दशास्त्र में प्रतिपादित वृत्त–लक्षण के अनुसार ठीक होने पर भी या तो) 'अश्रव्य' हो अर्थात् सुनने में खटके या 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' (अन्तिम लघु जिसमें गुरुभाव को प्राप्त नहीं होता है) तथा 'रसाननुगुण' (अर्थात् रस के अनुरूप जिसका छन्द ना हो)।

10.3.3.1 अश्रव्यत्वरूपहतवृत्तता

उदाहरण–

अमृतममृतं कः सन्देहोमधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जानो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्।।

अर्थात् (लोकोत्तर स्वादयुक्त) अमृत ही होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शहद भी (मधुर ही है) अन्य प्रकार का अर्थात् अस्वाद या फीका नहीं है। मधुर रसयुक्त आम का फल भी अत्यन्त मीठा होता है। परन्तु

अन्य सभी रसों के मर्मज्ञ कोई एक भी ऐसा निष्पक्ष व्यक्ति है जो यह बतलाए कि इस संसार में प्रिया के अधर से अधिक मधुर क्या कोई भी वस्तु हो सकती है।

यहाँ 'वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' अश्रव्य दोषयुक्त है। क्योंकि इस श्लोक में हरिणी छन्द है जिसका लक्षण है—'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौम्लौ गो यदा हरिणी तदा'। हरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में छठे अक्षर पर यति होनी चाहिए। चतुर्थ चरण में 'वदतु चदिहा' के पश्चात् यति की अपेक्षा थी, परन्तु यदि भङ्ग होने से अश्रव्य है। अतः यहाँ हतवृत्तता दोष है। इसके स्थान पर यदि 'वदतु मधुरं यत्स्यादन्यत् प्रियादशनच्छदात्' यह पाठ कर दिया जाए तो दोष नहीं रहेगा।

10.3.3.2 अप्राप्रगुरुभावान्तलघुरूप हतवृत्ता

अप्राप्रगुरुभावान्तलघुरूप हतवृत्त का उदाहरण—

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः।।
अत्र हारिशब्दः। 'हारिप्रमुदितसौरभ' इति पाठो युक्तः।

अर्थात् खिले हुए आमों के दूर फैले हुए (तार) और मनोहर सुगन्ध से (उन्मत होकर) गुञ्जार करते हुए भ्रमरों के समूह जिसमें (चारणों के समान) एकत्र हो रहे हैं और नवीन पत्र ही जिसका सुन्दर चमर है, इस प्रकार का (ऋतुराज) वसन्त मुनियों के मन को भी मोह लेता है।

यह अप्राप्तगुरुभावान्तलघु का उदाहरण है। यहाँ पुष्पिताग्रा छन्द के लक्षण—'अयुजि नयुगरेफतो चकारो चुजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' के अनुसार प्रथम चरण के अन्त में आदि लघु यगण का प्रयोग होने से अन्तिम वर्ण 'रि' गुरु होना चाहिए था। वैसे 'रि' स्वरूपतः लघुवर्ण है, परन्तु 'वा पादान्ते' के नियम के अनुसार वह गुरु माना जा सकता है। परन्तु छन्दशास्त्र की व्याख्या के अनुसार इस नियम को इन्द्रवज्रा आदि कतिपय छन्दों तक इसे परिमित माना गया है। इसलिए पुष्पिताग्रा छन्द यह नियम लागू नहीं होता है और इसलिए अन्तिम लघुवर्ण को गुरुवर्ण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार यह उदाहरण 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' का उदाहरण है। यहाँ यदि 'रि' के बाद आए 'परिमल' शब्द के स्थान पर 'प्रमुदित' कर दिया जाए तो संयुक्ताक्षर वर्ण के बाद में होने पर 'रि' गुरु हो जाएगा तथा अप्राप्तगुरुभावान्तलघु हतवृत्तता दोष समाप्त हो जाएगा।

अतः दोष के परिहार के लिए 'हारिप्रमुदितसौरभ' पद उचित है।

दूसरा उदाहरण—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्।
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च।।
अत्र 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। जिसके लक्षण—'सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शाईलविक्रीडित' के अनुसार श्लोक के प्रत्येक पाद का अन्तिम अक्षर गुरु होना चाहिए। चतुर्थ चरण के अन्तिम वर्ण 'च' को 'वा पादान्ते' नियम के अनुसार गुरु होना चाहिए था। परन्तु स्वाभाविक शिथिलता के कारण गुरु के रूप में उसका अनुभव नहीं हो पाता है। इसलिए यहाँ 'अप्राप्रगुरुभावान्तलघु' हतवृत्तता दोष उत्पन्न हो रहा है।

दोष का परिहार करने के लिए 'वस्त्राण्यपि' कर देने पर स्वरूप से लघु 'पि' संयुक्ताक्षर के बाद होने से उत्पन्न उच्चारण में दृढ़ता के कारण गुरुभाव को प्राप्त हो जाता है।

10.3.3.3 रसाननुगुण हतवृत्तता

हतवृत्तता नामक दोष का तीसरा भेद है—रसाननुगुण हतवृत्तता।

हा नृप! हा बुध! हा कविबन्धो! विप्रसहस्रसामाश्रय! देव!
मुग्ध! विदग्ध! सभान्तररत्न! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते।।
हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम्।

अर्थात् हे राजन्! हे विद्वान्! हे कवियों के बन्धु! और हे सहस्रों ब्राहमणों के आश्रय देव! हे सुन्दर (मुग्ध)! हे विद्वानों की सभा के मध्य रत्न (रूप राजन्)! आप कहाँ चले गये और आपके (प्रिय या आश्रित) ये हम कहाँ (रह गये) हैं।

इस श्लोक में करुण रस का प्राधान्य है।

इस श्लोक में लोगों के विलाप का वर्णन होने के कारण करुण रस का प्राधान्य है। कवि द्वारा प्रयुक्त 'दोधक' छन्द करुण रस का व्यञ्जक न होकर हास्य रस का व्यञ्जक है। इसलिए रसानानुगुण न होने के कारण 'हतवृत्तता' नामक दोष है।

10.3.4 न्यूनपदता

न्यूनपदता के उदाहरण–

तथाभूतां दृष्ट्वानृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।
अत्रास्माभिरिति, 'खिन्ने' इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च।

अर्थात् उस राजसभा में पाञ्ाली (द्रौपदी) की उस प्रकार की (बाल और वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में वल्कल धारण कर चिरकाल (बारह वर्ष) तक व्याधों के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोईया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिपकर जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया) और आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है। पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते हैं।

वेणीसंहार नाटक के इस श्लोक के तीनों चरणों में कर्त्तारूप में 'अस्माभिः' पद होना चाहिए था, उसके न होने से यहाँ न्यूनपदता दोष उत्पन्न हो गया है। चतुर्थ चरण में 'खिन्ने' से पूर्व 'इत्थं' पद होना चाहिए था परन्तु यहाँ उसके न होने पर न्यूनपदता दोष है।

10.3.5 कथितपदता

कथितपदता का उदाहरण–

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीलापरिमिलननिमीलत्पाण्डिमा–गण्डपाली।
सुतनु! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव स्मरनपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्।।
अत्र लीलेति।

अर्थात् करतलरूपी शय्या पर शयन करने के कारण (हाथ की) रगड़ से जिसकी पाण्डुता दूर हो गयी है (जिसमें लालिमा का उदय हो गया है) ऐसी तुम्हारी कपोलस्थली, हे सुतनु! यह बताओ किस (सौभाग्यशाली) के कामरूप राजा की लीलाओं के युवराज पद पर शीघ्र ही होनेवाले अभिषेक को सूचित करती है।

यहाँ 'लीला' पद प्रथम तथा चतुर्थ चरण में दो स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, अतः कथितपद दोष या पुनरुक्त दोष है।

10.3.6 पतत्प्रकर्षरूप

पतत्प्रकर्षरूपता का उदाहरण–

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः।
के के काति वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते।।

अर्थात् क्योंकि आज सिंहनी के स्नेह के प्रेमानन्द में सिंह एक स्थान में बँध गया है, इसलिए (उसके अभाव में निश्शङ्क होकर) कौन–कौन सा घुर्घुर शब्द करने वाली नाके कारण भयङ्कर सुअर कहाँ नहीं घुर्राता है, कौन कौन हाथी किस कमलों के तालाब को कमलों से रहित करने को तैयार नहीं हो गया है और कौन–कौन से जङ्गली भैंसे किन वनों का उन्मूलन न कर देंगे।

उपरोक्त श्लोक के प्रारंभिक तीन चरणों में वर्णों की रचना में जिस प्रकार की कठोरता है, उस प्रकार की कठोरता चतुर्थ चरण में नहीं है, इसलिए यह पतत्प्रकर्ष दोष हो गया है।

10.3.7 प्रसिद्धिविरुद्धता दोष

कवियों में कुछ विशेष शब्दों तथा अर्थों का विशेष रूप में वर्णन करने के नियम या परम्परा को 'कविसमय' या 'कविप्रसिद्धि' कहा जाता है। इस 'कविसमय' या कविप्रसिद्धि का उल्लङ्घन होने पर 'प्रसिद्धिविरुद्धता' दोष होता है। इस दोष को स्पष्ट करने के लिए पहले कुछ शब्दों के विशेष प्रयोग को दिखाकर फिर उसके अन्यथा प्रयोग के कारण प्रसिद्धि–विरुद्धता दोष को स्पष्ट करेंगे।

उदाहरण–

मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्।।

मञ्जीर आदि शब्द का कथन करने में रणित आदि जैसे शब्दों का, पक्षियों के शब्द में कूजित आदि, सूरत में स्तनित, मणित आदि तथा मेघ आदि के शब्द में गर्जित आदि का प्रयोग करना चाहिए।

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम्। यथा–

इस प्रकार की प्रसिद्धि का अतिक्रमण करने वाला (प्रसिद्धिविरुद्धता दोष होता है)। जैसे–

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः।।
अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषो सिहनादे।

अर्थात् महाप्रलय की वायु से क्षुभित (चतुर्दश प्रकार के) पुष्करावर्तक आदि नामों से प्रसिद्ध भयङ्कर मेघों के गर्जन की प्रतिध्वनि के सदृश सुनने में भयङ्कर लगनेवाला (अथवा कानों को भयप्रद) आकाश और पृथिवी को भर देनेवाला यह समरसागर से उत्पन्न अपूर्व शब्द सामने से क्यों (या कहाँ से) आ रहा है।

इस श्लोक में 'रव' शब्द मेंढ़क आदि (के शब्द) में प्रसिद्ध है, न कि उक्त प्रकार के विशिष्ट सिंहनाद (के अर्थ) में। इसलिए यहाँ प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है।

10.3.8 भग्नप्रक्रमता दोष

भग्नःप्रक्रमः प्रस्तावो यत्र।

जहाँ प्रकरण का भङ्ग हो जाए अर्थात् प्रस्ताव में भङ्ग हो जाने पर भग्नप्रूक्रमता दोष हो जाता है।

यथा–भग्नप्रक्रमता का उदाहरण–

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशाऽपि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति।।

अर्थात् दैववश रात्रि के पति अर्थात् चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि भी चली (विनष्ट हो) गयी, यह दुःख की बात है। किन्तु कुलाङ्गनाओं के लिए (पति की मृत्यु रूप इस) दशा के योग्य इससे अधिक अच्छी और कोई बात सम्भव नहीं है।

उपरोक्त श्लोक के उदाहरण में भग्नप्रक्रमता दोष है क्योंकि 'गता' के प्रकरण में 'गम' धातु का प्रयोग किया गया है वहीं 'याता' का प्रयोग करने पर मूलधातु के बदल जाने से भग्नप्रक्रमता दोष उत्पन्न हो गया है।

इस प्रकार भग्नप्रक्रमता को बचाने के लिए यदि 'गता' पद का दो बार प्रयोग के ग्रन्थकार के सुझाव को माना जाए तो पुनरुक्ति दोष उत्पन्न हो जाएगा। ऐसा स्वयं ग्रन्थकार के साथ–साथ अनेक विद्वानों ने भी निषिद्ध किया है। प्रश्न उठता है कि फिर ग्रन्थकार 'गता' पद के दो बार प्रयोग को कैसे स्वीकार कर रहे हैं। ग्रन्थकार उत्तर देते हुए स्पष्ट करते हैं कि एक पद के दो बार प्रयोग का निषेध उद्देश्य–प्रतिनिर्देश्यभाव से भिन्न स्थल में ही लागू होता है जहाँ उद्देश्य–प्रतिनिर्देश्यभाव होता है, वहाँ तो नियमतः उसी पद का प्रयोग होना चाहिए। अन्यथा की स्थिति में प्रतिनिर्देश्य अर्थ को अन्य पर्यायवाचक शब्द से कहने पर अर्थ की प्रतीति उतने सुन्दर रूप से नहीं होती है।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र 'कथितपदं दुष्टम्' इति चेहैवोक्तम्, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः? उच्यते। उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यण्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य। तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं बिना दोषः।

तथा हि–

जैसा कि निम्न श्लोक के माध्यम से समझेंगे–

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

अत्र 'रक्त एवास्तमेति' इति यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीति स्थगयति।

अर्थात् सूर्य लाल ही उदित होता है और अस्त होते समय भी लाल ही अस्त होता है। महापुरुषों का सम्पत्ति तथा विपत्ति दोनों में एक सा रूप रहता है।

यहाँ उद्देश्यस्थल तथा प्रतिनिर्देश्यस्थल में दोनों जगह एक ही पद 'ताम्र' का प्रयोग विशेषण के रूप में किया गया है। यदि 'ताम्र' पद के स्थान पर प्रतिनिर्देश्यस्थल में 'रक्त' पद का प्रयोग किया जाए जो कि ताम्र का पर्यायवाची शब्द है तो वह 'रक्त' पद ताम्रत्वरूप अर्थ से भिन्न अर्थ के समान प्रतीत होता है। साथ ही सम्पत्ति–विपत्ति दोनों में एकरूपता की प्रतीति में बाधा उत्पन्न करना है, इसलिए यहाँ भग्नप्रक्रमता दोष हो जाता है।

10.3.8.1 प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमता

'किरातार्जुनीयम्' के तृतीय सर्ग में अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्तिरूप निम्नश्लोक प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमता दोष का उदाहरण है–

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः।।
अत्र प्रत्ययस्य। 'सुखमीहितुं वा' इति युक्तः पाठः।

अर्थात् यश प्राप्त करने के लिए अथवा सुख को पाने के लिए, अथवा साधारण जनों की गणना का उल्लङ्घन करने के लिए प्रयत्नशील पुरुषों की (लक्ष्मी प्राप्त करने की) इच्छा न होने पर भी (स्वयं) ही उत्सुक हुई सी लक्ष्मी उनकी गोद में आ जाती है।

यहाँ प्रत्यय की भग्नप्रक्रमता है। 'सुखलिप्सया' के स्थान पर 'अधिगन्तुं' के समान 'सुखमीहितुं वा' यह तुमुन् प्रत्ययान्त पाठ उचित है। प्रकृतिगत और प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमता दोष का उदाहरण देने के बाद आचार्य ने सर्वनाम, पर्याय, उपसर्ग, वचन, कारक तथा क्रम की भग्नप्रक्रमता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रकार भग्नप्रक्रमता के आठ भेद किये गये हैं।

•

इकाई—11 अर्थ दोष

इकाई की रूप—रेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 अर्थदोष
11.2.1 अपुष्टदोष
11.2.2 कष्टार्थदोष
11.2.3 सन्दिग्धदोष
11.2.4 विधाविरुद्धतादोष
11.2.5 अपदयुक्तादोष
11.2.6 प्रकाशितविरुद्धता
11.2.7 अश्लीलता

11.2 अर्थदोष

पदगत, पदांशगत तथा वाक्यगत दोषों के निरूपण के बाद आचार्य अर्थदोषों का निरूपण करते हैं। काव्य प्रकाशकार ने कुल 23 अर्थदोषों की चर्चा अपने ग्रन्थ में की है।

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः।।
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः।।
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः।।

इस इकाई के अन्तर्गत अर्थदोषों का अध्ययन प्रस्तावित है।

अर्थदोष पीछे से अनुवृत्ति द्वारा या आक्षेप द्वारा सम्बद्ध होता है। सबसे पहले अपुष्ट आदि दोषों का क्रमशः उदाहरण यहाँ दे रहें—

11.2.1 अपुष्ट दोष

विशेषणों आदि का ग्रहण न करने पर भी जब अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं होती है तब अपुष्टार्थ होता है। असङ्गत अथवा पुनरुक्त नहीं होता है।

अपुष्ट दोष का उदाहरण—

अतिविततगगनसरणिपरिमुक्तविश्रमानन्दः।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति।।

अर्थात् अत्यन्त विस्तीर्ण गगन—मार्ग में (निरन्तर/प्रतिक्षण) चलते रहने के कारण विश्रामसुख का परित्याग कर देने वाले और वायु के द्वारा जिसका सौरभ प्रसारित किया जा रहा है, इस प्रकार के कमलसमुदाय को विकसित करनेवाले सूर्य सर्वोत्कर्षशाली हैं।

11.2.2 कष्टार्थदोष

कष्टार्थदोष में श्लोक का अर्थ क्लिष्टता से समझ में आता है। कष्टार्थदोष का उदाहरण—

सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति वहुमार्गा परिमलम्।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः।।

कष्टार्थदोष के उदाहरण के रूप दिया गया उपरोक्त श्लोक अत्यन्त कठिन है। इसका अर्थ अत्यन्त कठिनता से समझ आता है। प्राचीन टीकाकारों ने 'घनपरिचिताः' मेघों से आच्छादित 'महतां' द्वादश आदित्यों की

'रुचयः' प्रभा किस प्रकार स्वच्छ हो सकती है, इस प्रकार की दूसरी व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। प्रतीयमान अर्थ का प्रस्तुत अर्थ के साथ सामान्यतः उपमानोपमेय–भाव सम्बन्ध होता है। मेघाच्छन सूर्य को कान्तिवाले अर्थ का प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेय सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः यह अर्थ संगत नहीं हो सकता है।

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहतिताः गम्भीरकाव्य–परिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु। यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः।

अर्थात् जिन कवियों के मध्य वक्रोक्तिकार कुन्तक सुकुमार, विचित्र तथा मध्यमरूप तीनों मार्गों में चलने वाली भारती चमत्कार को उत्पन्न करती है। गम्भीर काव्यों से परिचित वे साधारण काव्य के समान सुबोध (प्रसन्न) कैसे हो सकती है। (यह प्रकृत पक्ष में अर्थ है।) दूसरे पक्ष में। जिन आदित्य–प्रभाओं के मध्य में त्रिपथगा आकाशगङ्गा बहती है वे मेघों से आच्छादित होने पर कैसे स्वच्छ हो सकती है। इस श्लोक का अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है।

कष्टत्वदोष का उदाहरण होने के कारण वृत्तिकार ने श्लोक का पूरा अर्थ न देकर संक्षेप से काम चलाया है।

11.2.3 सन्दिग्ध दोष

किसी प्रकरण आदि के विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर किसी एक के वाक्तादि के रूप में कथन कर देने पर एक पक्ष में निश्चय हो जाता है। यहाँ संदिग्ध नामक अर्थ दोष होता है।

सन्दिग्ध दोष का उदाहरण–

मात्सर्यमुत्सार्थ विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्।।

अर्थात् (कार्य–अकार्य के विचार में निपुण) हे आर्यो, आप पक्षपात छोड़कर और विचार करके यह बात प्रमाण सहित बतलाइये कि क्या पहाड़ों के मध्यभागों का (नितम्बों का) सेवन करना चाहिए अथवा कामवासना से मुस्कराती हुई सुन्दरियों के नितम्बों का सेवन करना चाहिए (इस प्रकार का संशय होने पर जो कर्त्तव्य हो सो आप लोग बतलाइये)।

11.2.4 विद्याविरुद्धता (अर्थदोष)

विभिन्न शास्त्र से विरुद्ध कार्य करने पर विद्याविरुद्धता नामक अर्थ दोष होता है। आचार्य ने चार उदाहरणों के द्वारा धर्मशास्त्र के विपरीत, अर्थशास्त्र के विपरीत कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र के विपरीत विद्याविरुद्ध दोष को स्पष्ट किया है।

धर्मशास्त्र के विद्याविरुद्ध का उदाहरण–

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च श्रृणोति च।।
अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम्।

अर्थात् वह विद्वान सदा (मध्य) रात्रि में स्नान करके सारे दिन नाना प्रकार के शास्त्रों की व्याख्या करता है, और (दूसरों की नई की गई व्याख्या को अथवा मूल शास्त्र को) सुनता है।
यहाँ ग्रहण (आदि) विशेष कारणों को छोड़कर रात्रि प्रहर में स्नान को धर्मशास्त्र के विरुद्ध माना गया है–

'रात्रौ स्नानं न कुर्वीत राहोरन्यत्र दर्शनात्'।

अर्थशास्त्र के विरुद्ध का उदाहरण–

अनन्यसदृशं यस्य बलं वोह्वोः समीक्ष्यते।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना।।

अर्थात् जिस राजा अथवा पुरुषों के बाहुओं में अतुल बल प्रतीत होता है (या पाया जाता है) उसके लिए (नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध छह गुणों–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव) षड् गुणों का प्रयोग सचमुच व्यर्थ है।

यह राजनीतिशास्त्र से विपरीत होने से कारण अर्थशास्त्र का विद्याविरुद्ध का उदाहरण है।

कामशास्त्र के विद्याविरुद्ध का उदाहरण–

विधाय दूरे केयरमनङ्गाङ्गणमङ्गना।
वभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम्।।
अत्र केयूरपदे नक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण।

अर्थात् कामदेव की क्रीडाभूमि (के रूप में) स्त्री ने बाजूबन्दों को दूर करके (उनके स्थान पर) पति के द्वारा उत्पादित (बनाए गए) नरवक्षतों की माला को धारण किया।

कामशास्त्र के अनुसार नरवक्षत के स्थान जंगा, वक्षस्थल तथा गाल आदि माने गए हैं–

'नरवक्षतस्य स्थानानि कक्षो वक्षस्तथा गलः। पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्डललाटिकाः।'

अतः बाजूबन्द का स्थान का विधान कामशास्त्र के अनुसार नखक्षत के लिए नहीं किया गया है, इसलिए कामशास्त्र के विरुद्ध होने से विद्याविरुद्ध है।

योगशास्त्र के विद्याविरुद्ध का उदाहरण–

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाधसिद्धिसविधं विदधद्दिगदूरे।
असादयनभितामधुना विवकेख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः।।

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः, प्श्चादसम्प्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्नतु विवेकख्यातौ, एदद् योगशास्त्रेण। एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम्।

अर्थात् समाधि ही जिसका धन है, ऐसे योगियों का शिरोमणि यह योगी अष्टाङ्ग योग के परिशीलन तथा अभ्यास (कीलन) से दुष्प्राप्य सिद्धि (अर्थात्–मुक्ति) के समीपवर्ती (असम्प्रज्ञात समाधि) को दूर करके (अर्थात् उसके बिना ही) अभिमत विवेकख्याति (प्रकृति–पुरुष के भेदज्ञान) को प्राप्त करते हुए अब मुक्त हो गया।

योगशास्त्र के अनुसार पहले प्रकृति–पुरुष के भेद के ज्ञानरूप विवेकख्याति, उसके बाद सम्प्रज्ञात समाधि और उसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि तथा अंत में मुक्ति होती है। उदाहरण में विवेकख्याति के बाद मोक्ष हो जाने से यह योगशास्त्र के क्रम के विरुद्ध है। इसलिए यहाँ विद्याविरुद्ध दोष है।

11.2.5 अपदयुक्तता

जब अस्थान अथवा अनुचित स्थान पर अनावश्यक पद जोड़ दिया जाए तो वह अपदयुक्तता दोष होता है। उदाहरण रूप में राजशेखरकृत बालरामायण नाटक के प्रथम अङ्क में सीता के वर के रूप में रावण के प्रस्ताव की विवेचना करते हुए जनक के राजपुरोहित शतानन्द जी का उद्धरण प्रस्तुत है–

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं।
भक्तिभूर्तपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते।
स्याच्चेदेप न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः।।
अत्र 'स्याच्चेदेप न रावणः' इत्यन्तमेव समाप्यम्।

अर्थात् रावण के दूत से शतानन्द कहते हैं कि रावण की आज्ञा इन्द्र के लिए शिरोधार्य (शिखामणि प्रणयिनी) है। शास्त्र जिसकी नवीन (प्रसिद्ध आँखों से भिन्न) आँखे हैं। भूतपति महादेव में (जिसकी) अपार भक्ति है, और लङ्का इस नाम से विख्यात दिव्य नगरी उसका वासस्थान है। ब्रहमा (द्रुहिण) के वंश में जन्म हुआ है।

इसलिए इस प्रकार का (इतने गुणों से युक्त) दूसरा वर नहीं मिल सकता है, यदि वह (दुराचारी) रावण न होता तो निःसन्देह ऐसा (उत्तम) वर और नहीं मिल सकता है। अथवा सबमें सब गुण कहाँ मिल सकते हैं।

इस श्लोक में 'स्याच्चेदेप न रावणः' कह कर ही समाप्त कर देना चाहिए था परन्तु 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' कह देने पर रावण को सीता के वर के रूप में अनुपयुक्त सिद्ध करने में बाधा उत्पन्न होती है। अतः अपदयुक्तता दोष है।

11.2.6 प्रकाशितविरुद्धता

विरुद्ध अर्थ के प्रकाशित होने पर प्रकाशितविरुद्धता दोष होता है–

उदाहरण–

लग्नं रागावृताङ्गया सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किंचिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनिचोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधि यस्य कीर्तिः।।

अत्र 'विदितुं तेडस्तु' इत्येतत्कृतम्। प्रत्यय लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत्।

इस श्लोक में लक्ष्मी उसको छोड़ रही है, इस विरुद्ध बुद्धि की भी प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ प्रकाशित विरुद्धता नामक अर्थदोष है।

11.2.7 अश्लीलता

जब अर्थ में अश्लीलता की प्रतीति होती है तब वहाँ अश्लीलता नामक दोष होता है।

उदाहरण–

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नति।।
अत्र पुण्यत्र्जनस्यापि प्रतीतिः।

अर्थात् दूसरे का नाश करने अर्थात् मारने के लिए उद्धत अभिमानी (खड़े हुए) और दोषों को खोजने वाले इस (दुष्ट व्यक्ति) का जितनी जल्दी पतन होता है उतनी जल्दी पुनः उत्थान नहीं होता।

यहाँ दूसरे अर्थ की जिसमें पुरुष लिङ्ग की भी प्रतीति हो रही है। अतः यह क्रीडाजनक अश्लीलता का उदाहरण है।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम्।

अर्थात् उक्त समस्त उदाहरणों में जहाँ एक ही दोष दिखाया गया है वहाँ अन्य कई दोष भी हो सकते हैं किन्तु प्रसंग न होने से उनको दिखाया नहीं गया है।

दोषों के निरुपण के बाद मम्मट ने अपवाद स्थलों को भी बतलाया है। अर्थात् कई ऐसे दोष होते हैं जो एक स्थान पर तो दोष है परन्तु सभी स्थानों पर वे दोष नहीं रहते अपितु गुण बन जाते हैं। ऐसे दोषों को अनित्य दोष कहा गया है। नित्य एवं अनित्य दोष रसापकर्षत्व के द्वारा निश्चय किये जाते हैं। च्युतसंस्कारादि नित्य दोष सदा रस के अपकर्षक होने के कारण दोष ही माने जाते हैं। घ्रुतिकटु आदि दोष श्रृंगार में कोमल रसों के अपकर्षक होने के कारण दोष माने जाते हैं जबकि रौद्र, वीर आदि रसों में ये रस के अपकर्षक नहीं होने के कारण दोष नहीं माने जाते हैं, इसलिए इन्हें अनित्य दोष कहा जाता है।

•

इकाई–12 रसदोष

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 व्यभिचारीभावों का वाचक शब्द से कथन

12.3 रसशब्द का स्वशब्द से कथन

12.4 स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता

12.5 रसदोषों के अपवाद

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद शिक्षार्थी रसदोषों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

रसदोष के अन्तर्गत व्यभिचारिभावों का वाचक शब्द द्वारा कथन किये जाने पर उत्पन्न दोषों को जान सकेंगे। रसशब्द का अपने वाचक शब्द से कहे जाने पर उत्पन्न दोष को जान सकेंगे।

स्थायिभावों की स्वशब्दवाच्यता से उत्पन्न दोष को जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत शिक्षार्थी–व्यभिचारिभावों का स्वशब्दगत कथन, रसशब्द का स्वशब्द से कथन, स्थायीभावों की स्वशब्दवाच्यता आदि का अध्ययन करेंगे। आचार्य मम्मट ने रसदोष के अन्तर्गत 13 दोषों का वर्णन किया है।

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।

अर्थात् (1) व्यभिचारिभावों, (2) रसों अथवा, (3) स्थायिभावों का अपने वाचक शब्द द्वारा कहना अर्थात् स्वशब्दवाच्यता, (4) अनुभाव और, (5) विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (6) रस के प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, (7) रस की बार–बार दीप्ति, (8) रस का अनवसर में विस्तार कर देना, (9) अनवसर में विच्छेद कर देना, (10) अप्रधान अङ्ग रस का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, (11) अङ्गी प्रधान रस को त्याग देना, भूल जाना, (12) प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना और (13) अनङ्ग अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है, उसका कथन, इस प्रकार रस में रहने वाले 13 दोष होते हैं।

12.2 व्यभिचारिभावों का वाचक शब्द से कथन

व्यभिचारिभावों का वाचक शब्द से कथन का उदाहरण–

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ द्रीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः।।

अत्र व्रीडादीनाम्।

अर्थात् (दयित) प्रियतम (शिवजी) के मुख के समाने होने पर सलज्ज (उनके ओढ़े हुए) हाथी के चमड़े के (बने हुए वस्त्र को) देखने पर सकरुण, शिवजी के द्वारा आभूषण रूप में धारण किये हुए (सांपों) को देखने पर त्रासयुक्त, अमृत को प्रवाहित करने वाले चन्द्रमा को देखने पर विस्मयरस से युक्त, (शिवजी के मस्तक पर स्थित जहनुकन्या) गङ्गा को देखने पर ईर्ष्याभाव से युक्त, (शिवजी द्वारा धारण किये हुए) कपाल के भीतर देखने पर दीनतायुक्त इस प्रकार नवसङ्गम के लिए उत्सुक पार्वती की दृष्टि तुम्हारे लिए कल्याणकारी हो।

यहाँ व्रीड़ा वाचक व्यभिचारिभावों का अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होने व्यभिचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता (अर्थात् अपने ही शब्दों से) दोष है।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौम्लाना कपालोदरे।
इत्यादि तु युक्तम्।

'व्यानम्रा दयितानने' इत्यादि पाठ युक्त (हो सकता) है (क्योंकि उसमें व्यभिचारिभावों के वाचक शब्दों को हटाकर उनको अन्य प्रकार से प्रकट किया गया है। 'सव्रीडा' के स्थान 'व्यानम्रा', 'सकरुणा' के स्थान पर 'मुकुलिता', 'सत्रासा' के स्थान पर 'सोत्कम्पा', 'सविस्मयरसा' के स्थान पर 'निमेषरहिता', 'सेर्ष्या' के स्थान पर 'मीलद्भ्रः' और 'दीना' के स्थान पर 'म्लाना' पाठ कर देने से उन व्यभिचारिभावों की स्ववाच्यता नहीं रहती है। अतः दोष का निवारण हो जाता है।

12.3 रसशब्द का स्वशब्द से कथन

'रसस्य स्वशब्देन श्रृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्। क्रमेणोदाहरणम्' रस की स्वशब्द अर्थात् रस शब्द से अथवा श्रृङ्गारादि शब्द से वाच्यता है। दोनों रस दोष है। क्रमशः उनके उदाहरण इस प्रकार हैं–

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः।।

अर्थात् कामदेव के विजय की मङ्जलक्ष्मी और तनिक ऊपर उठी हुई भुजा की स्थिति में देखी गयी उस नायिका को देखकर इसके नायक के भीतर किसी अनिर्वचनीय और अविच्छिन्न (निरन्तर) रस का हुआ।

इस श्लोक में रस को सामान्यवाचक शब्द अर्थात् स्वशब्द से ही रस का कथन होने से दोष है।

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्त्य विवर्तमानः श्रृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति।।

अर्थात् नायिका के कोमल कपोल तल पर स्थित व्यक्त अनुराग के कारण और भी अधिक सुन्दर उस मनोहर रूपवाली नायिका को देखकर बाल्यावस्था का अतिक्रमण करके नवयौवन में प्रविष्ट होता हुआ यह नायक घृङ्जार रस की सीमा में तरङ्गिन्त हो रहा है। इसको देखो।

12.4 स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता

स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता से उत्पन्न दोष का उदाहरण–

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणं परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्।।
अत्रोत्साहस्य।

अर्थात् युद्ध (भूमि) में शस्त्रों के परस्पर टकराने से उत्पन्न शब्दों को सुनकर उस (वीर) में कोई अपूर्व (अनिर्वचनीय) उत्साह उत्पन्न हुआ।

यहाँ वीररस के स्थायिभाव उत्साह को उसी शब्द–उत्साह से ही कहे जाने के कारण स्वशब्दवाच्यता दोष है।

12.5 रसदोषों के अपवाद

कई ऐसे अपवाद हैं जहाँ रस दोष, दोष नहीं माने जाते हैं। निम्नलिखित परिस्थितियों में व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं है।

न दोषः स्वपदेनोक्तादपि सञ्चारिणः क्वचित्।

उदाहरण–

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे।
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः।।

अर्थात् कहीं सञ्चारिभाव का स्वशब्द से कथन होने पर भी दोष नहीं होता है। जैसे–

प्रथमबार के समागम के अवसर पर (अपने पति शिवजी से) मिलने की उत्सुकता के कारण जल्दी करती हुई (नवोढ़ा वधू की) स्वाभाविक लज्जा के कारण लौटती हुई (पीछे हटती हुई सी) फिर बन्धुजनों की

स्त्रियों के तत्कालोचित (तैस्तैः) वचनों से दुबारा (शिवजी के सम्मुख) पहुँचायी गयी (एकान्त स्थल में पहुँचने पर) सामने वर (श्रेष्ठ या पति शिव) को देखकर भीतिग्रस्त (अतएव) रोमाञ्चित और (इस दशा को देखकर) हँसते हुए शिव के द्वारा चिपटा ली गयी (अलिङ्गित) पार्वती आप सबके लिए कल्याणकारी हों।

इस श्लोक में औत्सुक्य और लज्जा जी व्यभिचारिभाव हैं, उन्हें उसी शब्द अर्थात् स्वशब्द से कहा गया है, परन्तु वाचक शब्द से कहे जाने पर भी यहाँ दोष नहीं है। क्योंकि यदि यहाँ उन्हें स्वशब्द से कहकर उनके 'त्वरा' तथा 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभावों द्वारा कहा जाए तो औत्सुक्य एवं लज्जा का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि 'त्वरा' और 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभाव रोष और भय को भी प्रगट कर सकते हैं किन्तु यहाँ रोष और भय अर्थ विवक्षित नहीं है। औत्सुक्य तथा लज्जा के कारण त्वरा तथा लज्जानिमित्तक व्यावर्त्तन विवक्षित है। यह बात व्यभिचारिभाव का स्वशब्द से कथन किये बिना केवल अनुभाव द्वारा उनका बोध नहीं हो सकता है। इसलिए कवि ने उनका स्वशब्द से कथन किया है।

इस प्रकार व्यभिचारिभाव का जहाँ अनुभावों द्वारा निश्चित रूप से प्रतिपादन करना सम्भव न हो, वहाँ उसका स्वशब्द से कथन करना दोष नहीं होता है। परन्तु स्थायिभाव तथा रस की स्वशब्दवाच्यता सदा ही दोष मानी जाती है, उसका कोई अपवाद नहीं होता है।

•

इकाई–13 काव्य के गुण

इकाई की रूप–रेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 गुणों का सामान्य लक्षण
13.3 गुण एवं अलङ्कारों में अन्तर
13.4 गुणों के भेद–लक्षण एवं उदाहरण
13.5 गुणों का शब्दार्थधर्मत्व औपचारिक
13.6 वामनोक्त दश प्रकार के शब्दगुणों का खंडन
13.7 वामनोक्त दश प्रकार के अर्थगुणों का खंडन
13.8 गुणों के व्यञ्जक वर्ण

13.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुण का लक्षण जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुणों के भेद तथा उसके लक्षण को जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद मम्मट द्वारा वामनोक्त शब्द गुणों तथा अर्थगुणों को खंडन को जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुणों के व्यञ्जक वर्णों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य के लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि' में शब्दार्थौ के विशेषण रूप दो पद 'अदोषौ' और 'सगुणौ' दिये गये हैं। इकाई–12 में हमने दोष के विषय में अध्ययन किया। इस इकाई में हम 'सगुणौ' जो विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं कि विवेचना करेंगे। गुण का प्रकरण काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में वर्णित है। गुण को समझने से पूर्व हम गुण और अलंकारों के मध्य अन्तर समझेंगे। गुण और अलंकारों के मध्य भेद को लेकर आचार्यों में दो प्रकार के मत हैं। कुछ ने भेद को मिथ्याकल्पना माना हैं तो कुछ आचार्यों ने गुण और अलंकारों के मध्य भेद को स्वीकार किया है। सर्वप्रथम हम गुणों का सामान्य लक्षण जानेंगे।

13.2 गुणों का सामान्य लक्षण

सप्तम उल्लास में दोषों का वर्णन करने के बाद आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में काव्य के गुणों का वर्णन करते हैं। आचार्य मम्मट ने गुणों को शोभाजनक नहीं अपितु उत्कर्ष का हेतु माना है। गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर को समझने के लिए गुण एवं अलङ्कारों का स्वरूप समझना आवश्यक है।

एवं दोषानुक्त्वा गुणालंकार विवेकमाह–

ये रसस्याङ्गिनों धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

इस प्रकार (सप्तम उल्लास में) दोषों का वर्णन करने के बाद (इस अष्टम उल्लास में सबसे पहले) गुण तथा अलंकार का भेद बतलाते हैं–

आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान (काव्य के आत्मभूत) प्रधान रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं।

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारात्, अन्यत्राशूरेऽपि वितताकृतित्वमात्रेण

'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेः अमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेणमाधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि रसपर्यन्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति। अतएव माधुर्यादयोमाधुर्यादि रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। अथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते।

अर्थात् जैसे शौर्य आदि (धर्म) आत्मा के ही होते हैं शरीर के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं, वर्णों के नहीं। कहीं कहीं शौर्य आदि (आत्मगुणों) के योग्य शरीर की लम्बाई–चौड़ाई को देखकर 'इसका आकार ही शूरवीर है' इस प्रकार का व्यवहार होने से और दूसरी जगह अशूर (काया) में भी केवल लम्बी–चौड़ी आकृति को देखकर 'शूर' है यह, तथा कहीं शूर में भी केवल शरीर के छोटे होने के कारण भ्रान्त लोग जैसे व्यवहार करने लगते हैं, इसी प्रकार (1) मधुर आदि (गुणों के व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों में मुधर आदि व्यवहार होने से) (2) अमधुर आदि रस के अङ्गभूत वर्णों की सुकुमारता आदि मात्र से माधुर्य आदि का तथा (3) मधुर आदि रसों के अङ्गभूत उन वर्णों के असुकुमार अर्थात् कठोर होने से रस की मर्यादा को न समझने वाले भ्रान्त व्यक्ति उनके अमाधुर्य आदि का व्यवहार करते हैं। इसलिए यह समझना चाहिए कि माधुर्य आदि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं वे माधुर्य आदि योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णों पर आश्रित रहने वाले नहीं है। माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक वर्णों का उदाहरण आचार्य आगे देते हैं।

उपरोक्त कारिका एवं वृत्ति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि गुण के लक्षण में रसोत्कर्षत्व तथा रसनिष्ठत्व ये दो धर्म हैं। इसलिए गुण के लक्षण में ये दोनो हैं–(1) 'रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारित्वम्' और (2) 'अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वं गुणत्वम्'। अर्थात् रस को बढ़ाना या रस का उत्कर्ष करना तथा रस में रहना। अलंकार में ये दोनों तत्व नहीं पाए जाते हैं। रस के अभाव में भी शब्दालङ्कारों की स्थिति होने से इनमें रसाव्यभिचारित्व नहीं है और न वे अव्यभिचारेण रसोपकारक ही होते हैं। अलंकारों में गुणों के इन दोनों लक्षणों की अतिव्याप्ति नहीं होती है। इसलिए अलंकारों का लक्षण बताते हुए सिद्ध करते हैं कि अलंकारों में इन गुणों के धर्मों का अभाव होता है।

13.3 अलङ्कारों का सामान्य लक्षण

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

अर्थात् और जो (काव्य में) विद्यमान उस (अङ्गी रस) को शब्द तथा अर्थरूप अङ्गों के द्वारा (नियम से अथवा सर्वथा नहीं अपितु) कभी–कभी उपकृत (अर्थात् बढ़ाता है या उत्कर्षयुक्त) करते हैं। वे अनुप्रास और उपमा आदि (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार शरीर के शोभाधान द्वारा परम्परा या शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक) हार आदि (दैहिक अलङ्कारों) के समान (काव्य) के अलङ्कार होते हैं।

आचार्यों ने अलंकारों को शरीर का धर्म तथा गुणों की आत्मा का धर्म माना जाता है। कुछ आचार्यों ने काव्य के सौन्दर्य को ही अलङ्कार माना है तो कुछ अन्य आचार्यों ने काव्य जिस तत्त्व से अलङ्कृत होता है, उस तत्त्व को अलङ्कार माना है।

13.4 गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर

ध्वनिवादी आचार्यों से पूर्व वामन का विवेचन सबसे अधिक सुसम्बद्ध एवं तर्कसंगत है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गुणों का निरुपण करते हुए प्राचीन आचार्यों में वामन के मत को ही अधिक महत्त्व दिया है। गुणों का स्वरूप विवेचन करते हुए वामन ने गुणों और अलङ्कारों के भेद को भी बताया। वामन के अनुसार गुण काव्य के अन्तरङ्ग हैं और अलङ्कार बाह्य अङ्ग हैं–

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजः प्रसादादयः। न यमकोपमादयः। केवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादानीनान्तुकेवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः। तु शब्दो व्यतिरेक। अलङ्काराश्च यमकोपमादयः।'

अर्थात् काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं तथा उस शोभा के अतिशय को करने वाले धर्म अलङ्कार हैं। ओज, प्रसाद आदि गुण काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म हैं। यमक, उपमा आदि अलङ्कार स्वयं काव्य में शोभा को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु वे उस शोभा के अतिशय को प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य मम्मट ने भी गुण के स्वरूप को बताते हुए काव्य में इसके स्थान को निर्धारित किया है। मम्मट के अनुसार काव्य में रस अङ्गीरूप में रहते हैं तथा गुण उन रसों में नियत रूप से रहते हुए उनका उपकार करते हैं। काव्य अङ्गीभूत रस में गुण उसी प्रकार से रहते हैं, जिस प्रकार शरीर के अङ्गी आत्मा में शौर्य आदि गुण रहते हैं। इसे ही मम्मट ने अष्टम उल्लास के प्रारंभ में बताया है। गुणों तथा अलङ्कारों के इस स्वरूप विवेचन से तथा उनके स्थान को निर्धारित करने से उनके परस्पर भेद का भी स्पष्टीकरण होता है। इन दोनों में निम्न भेद हैं–

(1) गुण काव्य के आत्मभूत रस के धर्म हैं, परन्तु अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का उपकार करते हैं।

(2) गुण रस का साक्षात् रूप से अर्थात् सीधे उपकार करते हैं परन्तु अलङ्कार शब्द और अर्थ के माध्यम से रस का उपकार करते हैं।

(3) गुणों की स्थिति रस के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है। रस के होने पर गुण भी अवश्य होते हैं और रस के न होने पर वे नहीं होते। वे रस के नियम धर्म हैं। परन्तु अलङ्कारों की स्थिति ऐसी नहीं है। रस के न होने पर अलङ्कार हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

(4) गुण विद्यमान रस का नियत रूप से उपकार करते हैं, परन्तु अलङ्कार रस के होने पर उसका उपकार कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं।

(5) गुण रसनिष्ठ होते हैं जबकि अलङ्कार शब्दार्थनिष्ठ होते हैं।

13.4 गुणों के भेद–लक्षण एवं उदाहरण

गुणों की संख्या अथवा भेद के सन्दर्भ में प्राचीन आचार्यों के मत अलग–अलग हैं। आचार्य भरत ने दस, भामह ने तीन, दण्डी ने दस, 'अग्निपुराण' ने उन्नीस, वामन ने बीस, कुन्तक ने छः और भोज ने चौबीस गुण माने हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों की संख्या नियत करते हुए मात्र तीन गुण ही मानें।

मम्मट से पूर्व वामन का मत ही अधिक प्रचलित था। वामन ने दस शब्द गुण तथा दस अर्थगुण प्रतिपादित किये थे। मम्मट ने वामन द्वारा प्रतिपादित दस शब्द गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में माना तथा वामन द्वारा प्रतिपादित दस अर्थगुणों को गुण ही नहीं माना। शब्दगुणों की विस्तृत व्याख्या करते हुए मम्मट ने इनमे से कुछ गुणों का अन्तर्भाव इन तीन गुण में स्वीकार किया है और कुछ गुणों को दोष का अभाव मात्र माना है और कुछ को तो दोषरूप ही माना है।

इदानीं गुणानां भेदमाह–

(अब आगे) क्रम से (तीन गुणों) के लक्षण कहते हैं।

माधुर्य गुण–

13.4.1 माधुयौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।

अर्थात् गुणों के भेद को बताते हुए कहते हैं कि वे (गुण) (1) माधुर्य (2) ओज (3) प्रसाद (नामक) तीन ही गुण होते हैं (वामन के अभिप्रेत) दस नहीं होते हैं।

आह्लादकत्व माधुर्य श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम्।। श्रृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे। द्रुतिर्गलितत्वमिव। श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि।

अर्थात् (चित्त के) द्रवीभाव का कारण और श्रृङ्गार में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है वह माधुर्य (नामक गुण कहलाता) है। श्रृङ्गार में अर्थात् सम्भोग (श्रृङ्गार) में। द्रुति अर्थात् (चित्त) बिगलितत्वसा द्रवीभाव।

यहाँ आह्लादकत्व का अर्थ आह्लादजनकत्व नहीं अपितु आह्लादस्वरूपत्व है, क्योंकि श्रृङ्गार आदि रस आह्लादजनक नहीं अपितु आह्लादस्वरूप होते हैं। यहाँ श्रृङ्गार में जो आह्लादकत्व है वह माधुर्यगुण कहलाता है, यह बताया है। माधुर्यगुण आह्लादरूप है और यह सहृदय के हृदय के द्रवीभूत होने (द्रुति का) कारण होता है। यह माधुर्य सम्भोग श्रृङ्गार, करुण मे, विप्रलम्भ श्रृङ्गार में और शान्त रस में विद्यमान रहता है।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।

अर्थात् यह माधुर्य गुण सामान्यतः सम्भोगश्रृङ्गार में रहता है परन्तु करुण विप्रलम्भ श्रृङ्गार तथा शान्त रस में वह उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक (अतिशयान्वित) होता है।

13.4.2 ओज गुण

दीप्त्यामविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।।
चितस्य विस्ताररूपदीप्रत्वजनकमोजः।

अर्थात् चित्त के द्रवीभाव का कारणभूत आह्लादकत्व जिस प्रकार माधुर्यगुण कहलाता है, उसी प्रकार वीररस में रहने वाली (आत्मा अर्थात्) चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज कहलाती है।

चित्त के विस्ताररूप दीप्रत्व का जनक ओज (गुण कहलाता) है।

वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

अर्थात् यह ओज सामान्यतः वीररस में रहता है परन्तु वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः इसका आधिक्य विशेष चमत्कारजनकत्व रहता है।

वीराद्वीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः।

अर्थात् वीर रस की अपेक्षा वीभत्स में और उससे भी अधिक रौद्र रस में ओज का चमत्कारातिशय रहता है।

13.4.3 प्रसाद गुण

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादौऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।

अन्यदिति व्याप्यमिह चिन्तम्। सर्वत्रेति सर्वेषु, रसेषु, सर्वासु रचनासु च।

अर्थात् सूखे ईंधन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ (धुले हुए वस्त्र में) जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र (सब रसों में) रहनेवाला प्रसाद (गुण कहलाता) है।

यहाँ 'अन्यत्' पद का अर्थ व्याप्य चित्त तथा 'सर्वत्र' पद का अर्थ सब रसों और सब रचनाओं में करना चाहिए।

इस उदाहरण के द्वारा ग्रन्थकार बताते हैं कि जैसे सूखे ईंधन अग्नि सहसा ही (जल्दी से) अपने घेरे में ले लेती है या धुले हुए वस्त्रों को जल सरलता से भिगो देता है या वस्त्रों में जल भर जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रसाद गुण चित्त में अनायास ही व्याप्त हो जाता है और वह सभी रसों और रचनाओं में रहता है। यहाँ अग्नि और जल का उदाहरण देने का अभिप्राय यह है कि जब वीर और रौद्र के समान उग्र रसों में प्रसाद गुण होता है तो वह सूखे ईंधन में अग्नि के समान चित्त में व्याप्त होता है और जब श्रृङ्गार, करुण आदि कोमल रसों में होता है तब स्वच्छ वस्त्र में जल के समान चित्त में व्याप्त होता है।

13.5 गुणों का शब्दार्थधर्मत्व औपचारिक

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।
गुणवृत्त्या उपचारेण। तेषां गुणानाम्। आकारे शौर्यस्येव।

अर्थात् यद्यपि मुख्यरूप से गुण रस के धर्म हैं परन्तु गौणी वृत्ति से शब्द और अर्थ में भी उनकी स्थिति मानी गई है।

गुणवृत्ति अर्थात् उपचार से उनकी अर्थात् गुणों की। जैसे शरीर (आकार) में आत्मा के धर्म शौर्य आदि गुणों की स्थिति उपचार से मानी जाती है, उसी प्रकार उपचार से रस के धर्म माधुर्य आदि गुणों की शब्द और अर्थ में भी स्थिति मानी जाती है।

13.6 वामनोक्त शब्दगुणों का खण्डन

वामन ने जिन दस शब्दगुणों का प्रतिपादन किया है, उनकी विस्तृत व्याख्या करते हुए मम्मट ने कुछ गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों–माधुर्य, ओज और प्रसाद में कर दिया है तथा कुछ को दोष का अभाव मात्र स्वीकार किया और कुछ को दोष रूप ही स्वीकार किया है। इस प्रकार मम्मट ने तीन ही गुण स्वीकार किये हैं–

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।।

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौसिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

अर्थात् अनेक पदों की एक पद के समान प्रतीतिरूप जो (1) श्लेष और उतराव–चढ़ाव (आरोह–अवरोह) का क्रमरूप जो (2) समाधि और विकटत्वरूप (3) उदारता तथा ओज मिश्रित शैथिल्यरूप जो (4) प्रसाद (रूप चार शब्दगुण हैं) उनका (5) ओज (नामक वामन तथा मम्मट दोनों के सम्मत गुण में अन्तर्भाव होता है)। पृथक्पदत्वरूप (6) माधुर्य (गुण) को मम्मट ने भी प्रकारान्तर से साक्षात् स्वीकार कर लिया है। (7) अर्थव्यक्ति प्रसाद (गुण) के द्वारा आ ही गयी है। (8) मार्गाभेदस्वरूपिणी समता कहीं दोष हो जाती है। जैसे 'मातङ्गा किमु वल्गितैः'। उदाहरण में सिंह का वर्णन के तृतीय चरण में कोमल मार्ग का परित्याग गुण हो गया है, (यदि उसका त्याग न करके 'मार्गाभेद' रखा जाता तो वह यहाँ दोष हो जाता है, इसलिए समता को गुण नहीं माना जा सकता है)। कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष कहे जाने से उनके परित्याग द्वारा (क्रमशः) अपारुष्यरू (9) सौकुमार्य तथा औज्ज्वल्यरूप (10) कान्ति (गुण भी दोष अभावरूप से) स्वीकृत कर लिये गय हैं। इसलिए दस शब्द गुणों को मानना उचित नहीं है।

13.7 वामनोक्त दस अर्थगुणों का खण्डन

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थ च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च।।

अर्थात् (1) पद के प्रतिपाद्य अर्थ (के बोधन) में वाक्य की रचना (2) वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ में पद का कथन करना, (3) विस्तार या (4) संक्षेप करना (5) अर्थ का। (विशेषरूप से) साभिप्रायत्व (यह पाँच प्रकार की) प्रौढ़ि होती है।

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तद्भावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्वाधिक पदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्गयाभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः। कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिद्ध्यात्। अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

अर्थात् (1) इस प्रकार जो प्रौढि ओज कही गयी है, वह केवल विचित्रता मात्र है, गुण नहीं क्योंकि उसके बिना भी काव्यव्यवहार हो सकता है। अपुष्टार्थव्य, अधिपदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गलरूप अश्लील और ग्राम्यत्व के निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप (1) ओज (अर्थात् ओज गुण का दूसरा स्वरूप), अर्थ वैमल्यरूप (2) प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप (3) माधुर्य, अपारुष्यरूप (4) सौकुमार्य और अग्राम्यत्वरूप (5) उदारता (गुण, दोषाभाव के अन्तर्गत) स्वीकृत हुए हैं। स्वभावोक्ति अलङ्कार से और रसध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्गच के द्वारा वस्तु के स्वभाव की स्पष्टतारूप (6) अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्वरूप (7) कान्ति स्वीकृत हो गयी। क्रम–कौटिल्य–अनुल्बणत्वउपपत्तियोगरूप रचनास्वरूप (8) श्लेष भी विचित्रता मात्र है। अवैषम्यरूप (9) समता का अभाव दोष होगा, इसलिए समता दोषाभाव मात्र है, गुण नहीं। क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अन्य प्रकरण में अन्य की चर्चा करे। यदि अथोनि अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन न हो, तो काव्य कैसे बनेगा (10) इसलिए अर्थदृष्टि रूप समाधि भी गुण नहीं है।

वामन ने समाधि गुण का लक्षण 'अर्थदृष्टिः समाधिः' किया है तथा अर्थ के दो भेद हुए–(1) अयोनि अर्थात् अकारण अर्थात् कवि की कल्पना से उद्भूत होने वाला अर्थ तथा दूसरा अन्यच्छाया को लेकर वर्णित अर्थ स्वीकार किया है। इस दोनों अर्थदर्शन को वामन ने समाधि नामक गुण माना जाता है। किन्तु आचार्य मम्मट ने स्पष्ट किया है कि इन दो प्रकार के अर्थ के बिना तो काव्य की रचना ही नहीं की जा सकती है। इसलिए यह काव्य के कारणों में आ सकता है परन्तु काव्य का गुण नहीं माना जा सकता है।

वामन के द्वारा प्रतिपादित शब्दगुणों एवं अर्थगुणों के मात्र तीन माधुर्य, ओज, प्रसाद के अन्तर्भाव, दोष का अभाव तथा दोषरूप में होने को निम्न सारणी द्वारा सरलता से समक्ष सकते हैं—

गुणों के नाम	गुणों के लक्षण	अन्तर्भाव
(क) शब्दगुण		
(1) श्लेष	बहूनामापि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा (अनेक पदों का एक पद के समान प्रतीत होना)	ओज में
(2) समाधि	आरोहावरोह क्रमरूपः (वाक्य में आरोह तथा अवरोह के क्रम को बनाये रखना)	ओज में
(3) उदारता	विकटत्वलक्षणा (पदों की विकटता)	ओज में
(4) प्रसाद	ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा (ओज से मिश्रित शिथिलतारूप)	ओज में
(5) ओज	बन्धवैकट्यम् (रचना में विकट पदों को बांधना)	ओज में
(6) माधुर्य	पृथक्पदत्वरूपम् (पदों को पृथक–पृथक रखना अर्थात् समास का अभाव)	माधुर्य में
(7) अर्थव्यक्ति	झटिति अर्थज्ञानम् (तुरन्त अर्थ का बोध होना)	प्रसाद में
(8) समता	मार्गाभेदरूपा (वैदर्भी आदि रीतियों से कहीं भेद न करना)	कहीं दोष है
(9) सुकुमारता	कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्निशकरणात् तन्निराकरणेन अपरारुष्यरूपम् (कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोषों की बतलाने के कारण उनका निराकरण करके पारुष्य को दूर रखना)	दोष का अभाव मात्र
(10) कान्ति	औज्ज्वल्यरूपा (उज्ज्वलता का रूप होना)	दोष का अभाव मात्र

(ख) अर्थगुण

(1) ओज—ओज पांच प्रकार का है—

(1) पदार्थे वाक्यरचनम् (पद के लिए वाक्य की रचना करना) — विचित्रता मात्र

(2) वाक्यार्थे च पदाभिधा (वाक्य के लिए पद की रचना करना)

(3) व्यास (संक्षिप्त को विस्तार से कहना)

(4) समास (विस्तृत को संक्षेप से कहना)

(5) साभिप्रायत्वम (अभिप्राय से गर्भित वचनों को कहना) — अपुष्टार्थ दोष का अभाव मात्र

(2) प्रसाद अर्थवैमल्यात्मा (अधिकपदत्व का निराकरण करके अर्थ की निर्मलता) — अधिकपदत्व दोष का अभाव मात्र

(3) माधुर्य उक्तिवैचित्र्यरूपम् (उक्ति की विचित्रता मात्र) — अनवीकृतव्य दोष का अभाव मात्र

(4) सौकुमार्य अपारुष्यरूपम् (कठोरता का न होना) — अमङ्ल रूप दोष का अभाव मात्र

(5) उदारता अग्राम्यत्वरूपा (ग्राम्यत्व दोष का न होना) — अश्लील दोष का अभाव मात्र

(6) अर्थव्यक्ति वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा (स्वभावोक्ति अलङ्कार के द्वारा वस्तु के स्वभाव का विशद वर्णन) — स्वभावोक्ति अलङ्कार में

(7) कान्ति दीपसत्वरूपा (रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गय में रस का प्रतीयमान होना) — रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गय में

(8) श्लेष क्रमकौटिल्यानुल्वणोपपत्तियोगरूपघटनात्मा (क्रम के उल्लंघन की अस्फुटता को युक्ति पूर्वक मिला देना) — विचित्रता मात्र

(9) समता अवैषम्यरूपा (विषमता का न होना) — विषमता रूप दोष का अभाव मात्र

(10) समाधि अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा इति द्विविधः अर्थदृष्टिरूपः (अर्थ का दर्शन रूप, जो कि दो प्रकार का है)—

1. जो कवि की प्रतिभा से स्वयं उद्भूत हो, प्राचीन कवि द्वारा न कहा गया हो।
2. प्राचीन कवियों के भावों को अन्य प्रकार से नये ढंग से कहना) — अर्थदर्शनमात्र

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होगा कि मम्मट ने किस प्रकार वामन के शब्ददोषों तथा अर्थदोषों का खंडन करते हुए उनका अन्तर्भाव मात्र तीन गुणों में कर लिया है।

तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।
वाच्या वक्तव्याः।

अर्थात् इसलिए (वामन द्वारा बताए) जो (दस) अर्थगुण और शब्दगुण कहे गये हैं उनको (अलग) नहीं मानना चाहिए।

वाच्याः का अर्थ यहाँ वक्तव्याः करना चाहिए।

13.8 गुणों के व्यञ्जक वर्ण

तीन गुणों की स्थापना के बाद मम्मट गुणों के व्यञ्जक वर्णों, समाज आदि को बताते हैं कि किस गुण का कौन–सा वर्ण व्यञ्जक होता है।

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः।

के कस्य वूत्याह–

अर्थात् वर्ण, समास तथा रचना उन (तीनों गुणों) के व्यञ्जक होते हैं–

कौन सा वर्ण किस गुण का व्यञ्जक होता है, यह बताते हैं–

13.8.1 माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

अर्थात् अपने शिरपर स्थित अपने–अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्शवर्ण (क से लेकर म पर्यन्त सारे वर्ण स्पर्श कहलाते हैं) हस्व रकार तथा णकार और (आवृत्ति) समासरहित अथवा स्वल्प समासवाली (मध्यवृत्ति) रचना माधुर्य में व्यञ्जक होती है।

टठडढवर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफणकारौ हस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका। उदाहरणम्–

अनङ्जरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि।।

अर्थात् अटवर्ग, अर्थात् ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर (स्पर्शाः अर्थात्) क से लेकर म पर्यन्त (क वर्ग, च वर्ग, त वर्ग तथा प वर्ग इन चारों वर्गों के समस्त अक्षर) शिर पर अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त और ह्रस्व से व्यवहित रेफ तथा णकार ये (1) वर्ण, समास का अभाव (समासरहित अथवा मध्यम–समास) (स्वल्प समास) यह (2) समास तथा अन्य पदो ंके साथ योग (अर्थात् सन्धि से) माधुर्ययुक्त (3) रचना (ये तीनों) माधुर्य (नामक गुण) के व्यञ्जक होते हैं। जैसे–

(स्तनों के भार से) ईषत् नताङ्गी उस (नायिका) के, कामदेव की रङ्गशाला के समान उस अलौकिक शरीर को हावभावमयी चेष्टाओं ने इस प्रकार अपने अधीन कर लिया है, जिससे ये (भंगियाँ) युवकों के चित्ततों को सहसा ही अन्य विषयों की चिन्ता से रहित (केवल उसी के चिन्तन में तत्पर) कर देती हैं।

यहाँ गकार तथा तकार अपने वर्ण के अन्तिम वर्ण से युक्त हैं। अनङ्ग, तदङ्ग, भङ्गीभिः अङ्गीकृतम् आदि में गकार तथा स्वान्त, शान्त, चिन्तन आदि पदों में तकार अपने–अपने वर्गों के अन्तिम से युक्त है, और रङ्ग आदि पदों में ह्रस्व से व्यवहित रेफ है। ये सब वर्ण माधुर्य व्यञ्जक हैं। अनङ्गरङ्गप्रतिम यह मध्यमवृत्ति अर्थात् स्वल्प–समासवाली रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक है। इस प्रकार ये तीनों विप्रलम्भश्रृङ्गार में माधुर्य के व्यञ्जक हैं।

13.8.2 ओज के व्यञ्जक वर्ण

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्यचोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्ध्य गुम्फ उद्धत ओजसि।।

अर्थात् क वर्ग, च वर्ग, त वर्ग तथा प वर्ग चारों वर्गों के आदि अर्थात् प्रथम (क–च–त–प आदि) और तृतीय (ग–ज–द–ब आदि) वर्णों के साथ उनके बाद के (अन्त्योः अर्थात् ख–छ–थ–फ आदि द्वितीय तथा तृतीय के बाद के चतुर्थ घ–झ–घ–भ) वर्णों का निरन्तर या व्यवधानरहित तथा रेफ के साथ योग (अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूप में रकार का) (किसी वर्ण के साथ योग जैसे–वज्र, वक्त्र, निछादि आदि में) टादि (ट–ठ–ड–ढ़ वर्ण) तथा श–ष (ये सब वर्ण तथा) दोधी समास एवं उद्धत रचना (गुम्फ) ओज (गुण) में व्यञ्जक होते हैं।

वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके बाद के अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का, ऊपर–नीचे लगे हुए रकार (रेफ) के साथ जिस किसी वर्ण का, दो तुल्य वर्णों का अर्थात् (वित्त, उद्दाय–त्त/द्द) अर्थात् दो समान वर्णों का योग, वर्ग अर्थात् णकार को छोड़कर (ट–ठ–ड–ढ का प्रयोग), शकार तथा षकार का प्रयोग, दीर्घ समास और विकट रचना ओज गुण के व्यञ्जक होते हैं।

13.8.3 प्रसाद गुण के व्यञ्जक वर्ण

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु चेनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।
समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च।

उदाहरणम्–

परिम्लानं पनिस्तनजघनसङ्जादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्गया सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।।

अर्थात् जिस शब्द, समास या रचना के द्वारा श्रवणमात्र से शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाए, वह सब वर्णों, समासों तथा रचनाओं में रहनेवाला प्रसादगुण माना जाता है।

(समग्राणां) अर्थात् समस्त रसों तथा रचनाओं का साधारण धर्म प्रसादगुण होता है। उदाहरण–

ऊँचे स्तनों और नितम्बों के सम्पर्क से दोनों ओर मुरझाये हुये और शरीर के मध्य भाग (कमर के कृश होने से उस) के मिलन को प्राप्त न होने के कारण बीच में हरी और शिथिल भुजाओं के (इधर–उधर) पटकने तथा करवटें बदलने से जिसकी बनावट बदल गई है। इस प्रकार की कमलिनी के पत्तों की यह शय्या कृशांगी के विरहजन्य सन्ताप को बता रही है।

गुणानुसारिणी रचना के अपवाद

वामन ने गुणों के साथ–साथ रीतियों का भी प्रतिपादन किया है और वे रीति को ही काव्य का आत्मा मानते हैं। वामन की 'रीति' के लिए दण्डी तथा कुन्तक ने 'मार्ग' शब्द का तथा आनन्दवर्धन ने 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। ध्वन्यालोक में रीति अथवा संङ्घटना को गुण से भिन्न या अभिन्न मानने वालों के तीन सिद्धान्तों का वर्णन है। एक पक्ष गुण तथा सङ्घटना अथवा रीति से अभेद मानता है, दूसरा पक्ष उन दोनों का भेद मानता है। इस भेदवादी सिद्धान्त में भी दो विकल्प हैं–एक पक्ष सङ्घटना को गुणों का आश्रित मानता है तो दूसरा पक्ष गुणों की संङ्घटना के आश्रित नहीं माना है अपितु रस के आश्रित माना है। इसलिए वे संघटना या रीति को गुणों के आश्रित मानते हैं। गुणों के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य आदि का औचित्य भी सङ्घटना या वे रीति का नियामक हो सकता है।

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते।।

अर्थात् कहीं–कहीं वक्ता, वाच्य (विषय) तथा प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास तथा वर्णों का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है।

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः।

अर्थात् कहीं वाच्य तथा प्रबन्ध की (भी) उपेक्षा करके वक्ता के औचित्य से ही रचना आदि होती है।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः।

अर्थात् कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध (दोनों) की उपेक्षा करके (केवल) वाच्य के औचित्य से ही रचना आदि होती है।

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते। तथा हि आख्याचिकायां श्रृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः।

अर्थात् कहीं–कहीं वक्ता और वाच्य की उपेक्षा करके प्रबन्ध के औचित्य के अनुसार (रचना आदि) की जाती है। जैसे कि आरण्यायिका में श्रृङ्गार रस के वर्णन में भी अत्यन्त उद्धत वर्णरचनादि प्रयुक्त नहीं होते हैं और नाटकादि में रौद्ररस में भी दीर्घ समास आदि प्रयुक्त नहीं होते हैं।

इसी प्रकार अन्य औचित्यों का भी अनुसरण करना चाहिए।

संभावित प्रश्न

प्रश्न–(1) गुणों का सामान्य लक्षण बताइये।
प्रश्न–(2) गुणों के भेद बताइये।
प्रश्न–(3) गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न–(4) वामन के दस शब्द गुणों को बताइए।
प्रश्न–(5) वामनोक्त दस अर्थगुणों का मम्मट द्वारा किये गये खण्डन को समझाइए।

●

स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

MAST-104

काव्यशास्त्र

(काव्यप्रकाश)

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333

कुलपति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

संदेश

जनसंख्या की दृष्टि से वृहत्तम्, उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षा से वंचित परन्तु शैक्षिक नवाचारों की सम्भावनाओं से परिपूर्ण, प्रदेश की जनसंख्या को गुणात्मक शिक्षा के अवसर सर्वसुलभ एवं सर्वव्यापी बनाने के संकल्प से तीर्थराज प्रयाग में उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की **स्थापना 1999** में की गई थी। समाज का ऐसा वर्ग जो अपनी रोजमर्रा की अपरिहार्य व्यस्तताओं के चलते नियमित कक्षाओं में नहीं जा सकता, उसके घर तक अध्ययन सामग्री पहुँचाना एवं आवश्यकतानुसार परामर्श देना तथा उनकी अन्तर्निहित क्षमता को प्रस्फुटित करना विश्वविद्यालय की शीर्ष प्राथमिकता है। अपनी स्थापना काल से लेकर वर्तमान भूमण्डलीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण के इस उपयोगितावादी युग में सर्वांगीण व्यक्तित्त्व निर्माण के लक्ष्य को लेकर यह विश्वविद्यालय रोजगारपरक पाठ्यक्रमों के संचालन एवं क्रियान्वयन हेतु कृतसंकल्पित है।

सम्प्रति इस विश्वविद्यालय के बारह क्षेत्रीय केन्द्र क्रमशः प्रयागराज, वाराणसी, गोरखपुर, फैजाबाद, लखनऊ, बरेली, आगरा, मेरठ, झाँसी, कानपुर, नोएडा एवं आजमगढ़ में संचालित हैं। लगभग 1200 से अधिक संचालित अध्ययन केन्द्र के माध्यम से उच्च शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। विश्वविद्यालय के कार्यक्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए, शिक्षार्थियों के हित में एक टोल फ्री नम्बर **1800-120-111-333** भी प्रारम्भ किया गया है।

विश्वविद्यालय में त्वरित गति से विकसित हो रही आधुनिक संचार प्रणाली का प्रयोग करते हुए **'वर्ष पर्यन्त प्रवेश'** प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्ष में दो सत्रों जनवरी एवं जुलाई में ऑनलाइन प्रवेश लेने की व्यवस्था प्राविधानित है। शिक्षार्थी केन्द्रित व्यवस्था के अन्तर्गत प्रवेश, परामर्श, पाठ्यसामग्री, अधिन्यास, परीक्षा आदि विभिन्न शैक्षिक गतिविधियों को ऑनलाइन करके विश्वविद्यालय ने शिक्षा को शिक्षार्थी के द्वार तक पहुँचाने में सफलता अर्जित की है। शिक्षार्थियों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए विश्वविद्यालय की वेबसाइट को फेसबुक, ट्विटर और यू-ट्यूब जैसे सोशल मीडिया उपकरणों से सम्बद्ध कर दिया गया है। छात्रों को ऑनलाइन पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराने के लिए मोबाइल ऐप को विकसित करते हुए तथा MOOCS, SWAYAM आदि के माध्यम से यह विश्वविद्यालय वर्चुअल शिक्षा के स्वप्न को साकार करने की दिशा में शीघ्रता से आगे बढ़ रहा है।

शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य भौगोलिक दूरी की बाधा को न्यूनतम करने हेतु विश्वविद्यालय बहुआयामी संचार पद्धति का प्रयोग कर रहा है। शिक्षार्थियों तथा प्राध्यापकों की शोध के क्षेत्र में उन्नति और कैरियर संवर्धन हेतु विश्वविद्यालय में समसामयिक महत्वपूर्ण विषयों पर राष्ट्रीय संगोष्ठियों, कार्यशालाओं एवं व्याख्यान कार्यक्रमों का आयोजन निरन्तर किया जाता है। वर्तमान समय में विकास की वैकल्पिक विचारधारा के रूप में पंडित दीन दयाल उपाध्याय के विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता को दृष्टिगत रखते हुए विश्वविद्यालय में **'दीन दयाल उपाध्याय शोध पीठ'** की स्थापना की गयी है। उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय में अटल बिहारी बाजपेई सुशासन पीठ पहले से ही स्थापित है।

दूरस्थ व मुक्त शिक्षा प्रणाली में शिक्षार्थी सहायता सेवाओं की गम्भीरता को देखते हुए विश्वविद्यालय द्वारा विभिन्न अध्ययन केन्द्रों तथा क्षेत्रीय केन्द्रों पर संचालित गतिविधियों के निरीक्षण और अनुश्रवण हेतु प्रभावी एवं ठोस कदम उठाए जा रहे हैं। इस क्रम में हमारा प्रयास है कि हम शिक्षार्थियों से सीधे संवाद स्थापित कर उनकी जरूरतों को पहचानने और तदनुरूप अपनी शैक्षिक तथा प्रशासनिक व्यवस्थाओं को अधिक से अधिक अनुकूलतम बनाने की दिशा में कार्य कर सकें। देश की समसामयिक चुनौतियों एवं समस्याओं को देखते हुए वर्तमान सत्र से पूर्व में संचालित रोजगारपरक पाठ्यक्रमों को जारी रखते हुए नागरिकता संशोधन कानून एवं कोविड-19 पर जागरूकता पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हो गया है।

शिक्षा को सामाजिक एवं राष्ट्रीय सरोकारों से जोड़ते हुए प्रति-वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस, राजर्षि टण्डन जयन्ती स्मृति व्याख्यानमाला, पं. दीन दयाल उपाध्याय स्मृति व्याख्यानमाला, स्वैच्छिक रक्तदान शिविर, राष्ट्रीय तम्बाकू नियंत्रण जागरूकता कार्यक्रम, शिक्षक दिवस, हिन्दी दिवस और गाँधी जयन्ती पर विचार गोष्ठियों एवं व्याख्यान कार्यक्रमों के आयोजन की समृद्ध परम्परा है।

मैं विश्वविद्यालय की प्रगति में निरन्तर योगदान करने वाले शिक्षाविदों, क्षेत्रीय समन्वयकों तथा अध्ययन केन्द्रों के समन्वयकों, प्राचार्यों एवं समस्त विश्वविद्यालय परिवार के प्रति सम्मान एवं आभार ज्ञापित करती हूँ। विश्वविद्यालय को प्रगति के सोपानों पर अग्रसर करने में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान करने वाले सभी सम्भ्रांत नागरिकों को मैं साधुवाद देती हूँ। मैं विश्वविद्यालय के केन्द्र बिन्दु तथा अध्ययन के प्रति निष्ठावान छात्र-छात्राओं के मंगलमय भविष्य की कामना करती हूँ।

Seema

प्रो० सीमा सिंह
कुलपति

MAST-104

काव्यशास्त्र

(काव्यप्रकाश)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड — क : काव्यप्रकाश 1—98

इकाई 1 : काव्यशास्त्र एवं उसके प्रमुख सम्प्रदायों का सामान्य परिचय

इकाई 2 : काव्यप्रकाश–प्रथम उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई 3 : काव्यप्रकाश–द्वितीय उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई 4 : काव्यप्रकाश–तृतीय उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई 5 : काव्यप्रकाश–चतुर्थ उल्लास (रससूत्र एवं उनकी विविध व्याख्याएँ)

इकाई 6 : समीक्षात्मक प्रश्न–उत्तर

TESLA

MAST-104
काव्यशास्त्र
(काव्यप्रकाश)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड — क
काव्यप्रकाश

इकाई — 1 7—20

काव्यशास्त्र एवं उसके प्रमुख सम्प्रदायों का सामान्य परिचय

इकाई — 2 21—34

काव्यप्रकाश—प्रथम उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई — 3 35—48

काव्यप्रकाश—द्वितीय उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई — 4 49—58

काव्यप्रकाश—तृतीय उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई — 5 59—72

काव्यप्रकाश—चतुर्थ उल्लास (रससूत्र एवं उनकी विविध व्याख्याएँ)

इकाई — 6 73—98

समीक्षात्मक प्रश्न—उत्तर

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो0 के0 एन0 सिंह — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 आर0 पी0 एस0 यादव — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त — उपनिदेशक/सह–आचार्य/(संस्कृत) मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 उमाकान्त यादव — अध्यक्ष/आचार्य, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हरिदत्त शर्मा — पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 मुरली मनोहर पाठक — आचार्य, संस्कृत विभाग दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ0 स्मिता अग्रवाल — शैक्षिणक परामर्शदाता (संस्कृत) उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 स्मिता अग्रवाल — शैक्षिणक परामर्शदाता (संस्कृत) उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक/परिमापक

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त — उपनिदेश/सह–आचार्य (संस्कृत) उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक

डॉ0 स्मिता अग्रवाल — शैक्षिणक परामर्शदाता (संस्कृत) उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सितम्बर, 2021 (मुद्रित)

©उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2021

ISBN- 978-93-83328-32-1

उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – कुलसचिव, डॉ. अरुण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2021

मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

TESLA

काव्यशास्त्र

(MAST-104)

पाठ्यक्रम परिचय

काव्यशास्त्र (MAST-104) (काव्यप्रकाश)

पाठ्यक्रम के इस खण्ड में आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश के कुछ अंश का अध्ययन निर्धारित है। यह खण्ड छः इकाईयों में विभक्त है। प्रथम इकाई में काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय इकाई में काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास की कारिकाओं की व्याख्या की गई है। तृतीय इकाई में द्वितीय उल्लास तथा चतुर्थ इकाई में तृतीय उल्लास की कारिकाओं की सरल व्याख्या की गई है। पंचम इकाई में चतुर्थ उल्लास के रससूत्र से पूर्व तक की करिकाओं की हिन्दी है। पंचम इकाई में रससूत्र एवं उसकी विभिन्न आचार्यों के द्वारा की गई भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत हैं। अन्तिम में षष्ठ इकाई में पूर्व की पांचों इकाईयों के समीक्षात्मक प्रश्न-उत्तर संकलित हैं। इस प्रश्नपत्र को केवल एक ही खण्ड में समाहित किया गया है।

TESLA

इकाई-1

काव्यशास्त्र एवं उसके प्रमुख सम्प्रदायों का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 नामकरण

1.3 काव्यशास्त्रीय तत्व

1.4 काल विभाग

1.5 काव्यशास्त्र के सम्प्रदाय

1.5.1 रससम्प्रदाय

1.5.2 अलङ्कार सम्प्रदाय

1.5.3 रीति सम्प्रदाय

1.5.4 वक्रोक्ति सम्प्रदाय

1.5.5 ध्वनि सम्प्रदाय

1.5.6 औचित्य सम्प्रदाय

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् छात्र-

- काव्यशास्त्र के इतिहास का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की तुलना कर सकेंगे।

TESLA

1.1 प्रस्तावना

पाठ्यक्रम में निर्धारित इस प्रशनपत्र में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यप्रकाश का अध्ययन प्रारंभ करने से पूर्व काव्यशास्त्र की सामान्य जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। काव्यशास्त्र में काव्य के विभिन्न तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान होता है। काव्य सौन्दर्य के मानक तथा काव्य सौन्दर्याभिवर्धक तत्त्व-गुण अलङ्कार (शब्दालंकार, अर्थालंकार) रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि की परख करने वाले शास्त्र को काव्यशास्त्र कहते है।

1.2 नामकरण

शब्द तथा अर्थ के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली, सरस चमत्कृति, काव्य तथा इस काव्य-कला की मीमांसा को 'काव्यशास्त्र' कहा जाता है। इस काव्य-कला या काव्यशास्त्र का अन्य अनेक नामों से भी संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। संस्कृत काव्यशास्त्र की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन हैं।

1. महर्षि वात्स्यायन के कामसूत्र (ई0 की दूसरी शती, (1,13,16) में इसे **क्रियाकल्प** या **काव्यक्रियाकल्प** (काव्यकरणविधि) कहा गया है।

2. वाल्मीकिरामायण में काव्यवेत्ता के लिए (94/7) में **क्रियाकल्पविद्** कहा गया है।

3. आचार्य भामह ने इसे **काव्यालङ्कार** (1/10) में **काव्यक्रिया** कहा है।

4. आचार्य दण्डी ने **काव्यादर्श** में (1/9) में इस के लिए **क्रियाविधि** शब्द के प्रयोग के साथ इसके लिए **काव्यलक्षण** शब्द का भी प्रयोग किया है।

5. आचार्य भामह ने दण्डी के **काव्यलक्षण** शब्द के स्थान पर **काव्यलक्ष्म** शब्द का प्रयोग किया है।

6. इन नामों के अतिरिक्त काव्य के शोभाधायक तत्त्वों को अलङ्कार मान कर काव्यशास्त्र के लिए **काव्यालङ्कारशास्त्र** या **अलङ्कारशास्त्र**, शब्द का प्रयोग भी किया गया है। यहाँ अलङ्कारशास्त्र, शब्द का प्रयोग भी दो अर्थों में किया गया है। प्रथम इसे **अलङ्क्रियते अनेन इति**, इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपमा, रूपक, दीपक, आदि काव्य के शोभाधायक तत्त्व रूप इस सीमित अर्थ में लिया गया है। द्वितीय **अलङ्क्रियते इति** इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। इसी दृष्टि से आचार्य भामह, रुद्रट, आदि काव्य-समालोचकों ने अपने ग्रन्थों का नाम **'काव्यालङ्कार'** रखा। भट्टोद्भट, वामन आदि आचार्यों ने भी इसी दृष्टि से अपने ग्रन्थों के लिए **काव्यालङ्कारसारसंग्रह** एवं **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति** ये नाम निर्धारित किये। भामह, वामन आदि आचार्यों को सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आलङ्कारिक कहा जाता रहा है। कालान्तर में अलङ्कार शब्द, काव्यशास्त्र के अङ्गभूत शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के अर्थ में ही प्रसिद्ध हो गया।

TESLA

1.3 काव्यशास्त्रीय तत्त्व

काव्यशास्त्रीय तत्त्वों को 1. काव्य, 2. शास्त्र, 3. इतिहास, 4.काव्यशास्त्र, 5. काव्येतिहास तथा 6. शास्त्रेतिहास, इन छह रूपों में विभाजित किया जा सकता है। इन छहों को विच्छित्तियाँ कहते हैं। इनमें से प्रथम तीन मूलवृत्तियाँ कही जाती हैं, बाद की तीनों को प्रवृत्तियाँ कहते हैं।

वाणी के द्वारा मनुष्य तीन प्रकार से अनुभावित किया जाता है। 1-हृदय या सम्वेदनाओं का स्पर्श करते हुए। 2- मस्तिष्क को गहन चिन्तन और अन्वेषण की ओर प्रेरित करते हुए तथा 3- व्यावहारिक धरातल पर बुद्धि के आकलन-समाकलनमूलक तथ्यों का विवरण प्रदान करते हुए। अनुभावन की इस त्रिविधता के कारण, वाङ्मय के भी 1- काव्य, 2- शास्त्र तथा 3 इतिहास, ये तीन भेद निष्पन्न हो जाते हैं। सर्जनाशक्ति को काव्य का मूल तत्त्व माना गया है। प्रतिपत्ति या अनुव्यवसायात्मकता को शास्त्र का उत्स माना जाता है तथा सङ्कलन तथा स्मृति को इतिहास का बीज माना गया है। काव्य एवं शास्त्र का संयोग काव्यशास्त्र है। इनमें काव्य, कारयित्री प्रतिभा की सर्जना है तो, काव्यशास्त्र, भावयित्री प्रतिभा का विलास है। प्रथम का आश्रय कवि है तो, सहृदय- हृदय श्रोता को दूसरे का आश्रय माना गया है। इस परस्पर सम्बन्ध के आधार पर, काव्यनिबन्धन के साथ ही साथ, काव्यशास्त्र का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। काव्यमीमांसा के रचनाकार, आचार्य राजशेखर ने इस साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र को चारों प्रसिद्ध विद्याओं की सारभूता पंचमी साहित्यविद्या कह कर सम्मानित किया है।

1.4 काल-विभाग

भरतमुनि का समय विक्रम से दो शताब्दी पूर्व से लेकर दो शताब्दी बाद तक के मध्य का स्वीकार किया जाता है। 18वीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ, आशाधर भट्ट और विश्वेश्वर पंडित तक के 2 हजार साल के साहित्य-निर्माण के अलंकार शास्त्र के इतिहास के इस काल खण्ड को विद्वानों ने इस प्रकार से बाँटा हैं-

1) प्रारम्भिक काल (अज्ञात से लेकर भामह तक)

2) रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्द्धन तक, अर्थात् 600 विक्रमी से 800 विक्रमी तक)

3) निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्द्धन से लेकर मम्मट तक, अर्थात् 800 विक्रमी से 1000 विक्रमी तक)

4) व्याख्या काल (मम्मट से लेकर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक, अर्थात् 1000 विक्रमी से लेकर 1750 विक्रमी तक)

1) **प्रारम्भिक काल –** यह काल अज्ञात से लेकर 7वीं शताब्दी के प्रारंभ में भामह तक आता है। इस काल में मुख्य रूप से भरत और भामह का नाम ही उल्लेखनीय है। आचार्य भरत का ग्रन्थ नाट्यशास्त्र साहित्य शास्त्र का प्रथम एवं मुख्य ग्रन्थ है। इसमें आचार्य ने रस और नाट्यविधा के सूक्ष्म तत्त्वों का विशद विवेचन किया है।

TESLA

आचार्य भरत के बाद मेघाविरुद्र का नाम उद्धरण के रूप में अन्य आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में लिया गया है। परन्तु इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए भामह को अलङ्कारशास्त्र का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। इनका ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' अलङ्कारशास्त्र का मुख्य ग्रन्थ है। इन्होंने भरत द्वारा प्रतिपादित चार अलङ्कारों के स्थान पर 38 अलंङ्कारों का विवेचन किया है।

2) **रचनात्मक काल –** रचनात्मक काल भामह (600 विक्रमी) से लेकर आनन्दवर्द्धन (800 विक्रमी) के मध्य का काल माना जाता है। इस काल खण्ड में चार सम्प्रदायों के मौलिक ग्रन्थों की रचना हुई। आचार्यों और उन ग्रन्थों के नाम सम्प्रदाय के अनुसार निम्न हैं –

1) अलङ्कारसम्प्रदाय – भामह, उद्भट, रुद्रट

2) रीतिसम्प्रदाय – दण्डी, वामन

3) रससम्प्रदाय – लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक आदि

4) ध्वनिसम्प्रदाय – आनन्दवर्द्धन

3) **निर्णयात्मक काल –** आनन्दवर्द्धन से लेकर मम्मट तक अर्थात् 800 विक्रमी से 1000 विक्रमी तक का काल निर्णयात्मक काल माना जाता है। इस काल में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए-

1) अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका लिखी तथा नाट्यशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनवभारती' लिखी।

2) आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवितम् के द्वारा वक्रोन्ति सम्प्रदाय की स्थापना की।

3) आचार्य महिमभट्ट ध्वनिसम्प्रदाय के कट्टर विरोधी आचार्य हैं। इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' ध्वनिसिद्धान्त का आमूल खण्ड करने वाला ग्रन्थ है।

4) इनके अतिरिक्त रूद्रभट्ट, भोजराज, धनञ्जय भी इसी कालखण्ड के आचार्य हैं।

4) **व्याख्या काल –** व्याख्याकाल मम्मट से जगन्नाथ तक का काल अर्थात् 1000 विक्रमी से 1750 किमी के मध्य का काल माना जाता है। इस सर्वाधिक लम्बे कालखण्ड में अनेक आचार्यों से अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों द्वाारा साहित्य साधना की। सम्प्रदायों के अनुसार आचार्यों के विभाग को निम्न रूप से देखा जा सकता है-

1) ध्वनिसम्प्रदाय – मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि।

2) रससम्प्रदाय – शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि।

3) कविः शिक्षा – राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।

4) अलङ्कारसम्प्रदाय – पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

TESLA

अन्य प्रकार से काल विभाजन

कुछ विद्वानों ने ध्वनि सिद्धान्त को साहित्यशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मान कर इस काल को तीन भागों में बाँटा है-

1) पूर्वध्वनिकाल – प्रारम्भ से आनन्दवर्धन तक (८०० विक्रमी तक)।

2) ध्वनिकाल – आनन्दवर्धन से मम्मट तक (८०० विक्रमी से 1000 विक्रमी तक)।

3) पश्चात् ध्वनिकाल – मम्मट से पंडितराज जगन्नाथ तक (1000 विक्रमी से 1750 विक्रमी तक।

1.5 काव्यशास्त्र के सम्प्रदाय

शरीर में जिस प्रकार आत्मा को प्रमुख तत्त्व माना जाता है, उसी प्रकार, काव्य में भी जिस तत्त्व के कारण आहलाद की, सौन्दर्य की प्रतीति होती है, ऐसे तत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप में आचार्यों ने स्थापित किया है। अपने इस सिद्धान्त के आधार पर आचार्यगण विभिन्न परिणामों पर पहुंचे, जिन्हें जिस तत्त्व में सर्वाधिक सौन्दर्य के आकर्षण का अनुभव हुआ, उन्होंने उस तत्त्व को ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। काव्यशास्त्र में 1.रस-सम्प्रदाय, 2.अलङ्कार -सम्प्रदाय, 3.रीति-सम्प्रदाय, 4.ध्वनि-सम्प्रदाय, 5.वक्रोक्ति -सम्प्रदाय तथा 6.औचित्य सम्प्रदाय, ये छह सम्प्रदाय, प्रमुख रूप से माने गए हैं।

1.5.1 रससम्प्रदाय

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि का नाम अग्रगण्य है। इनका समय प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य का माना जाता है। आचार्य भरत का ग्रन्थ नाट्यशास्त्र नाट्यविधा का ग्रन्थ होने के साथ-साथ समस्त कलाओं का विश्वकोश है। आचार्य भरत ने रस के प्रति सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है। उनके अनुसार रस सम्प्रेषण है तथा अलङ्कार सम्प्रेषण का माध्यम है।

संस्कृत वाङ्मय में 'रस' शब्द का अत्यन्त प्राचीन काल से विविध अर्थों में प्रयोग होता आया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रस तथा भाव शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में रस शब्द, सोमरस, दूध तथा जल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है

पावमानीर्यो अध्येति ऋषिभिः संभृतो रसः।

तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिमधूदकम् ॥

-ऋग्वेद, 09.167.32.

तैत्तिरीयोपनिषत् में जिसे प्राप्त कर व्यक्ति परमानन्द को प्राप्त करता है, उस ब्रह्म तत्त्व के लिए रस शब्द का प्रयोग किया गया है :

रसो वै सः। रसं होवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

-तैत्तिरीयोपनिषत् 2.7.01.

भरत के अनुसार रस-सामग्री अथर्ववेद से ली गई है :

TESLA

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदानभिनयान् रसानथर्वणादपि॥

- नाट्यशास्त्र

कोषग्रन्थों में जल, स्वाद, वीर्य, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु, तिक्तादि भोजन के षड्रसों में रस शब्द का प्रयोग किया गया है। काव्यशास्त्र में शृंगारादि रसों के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग किया गया है :

रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ विषे द्रवे।

बोले रागे गृहे धातौ तिक्तादौ पारदेऽपिच॥

- हैमकोश पृ. 19

अग्निपुराण में वाणी के चातुर्य की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में रस को प्रतिष्ठित किया गया है

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ॥ अग्निपुराण 01/33. .

नाट्यशास्त्र के रचनाकार आचार्य भरत मुनि सैद्धान्तिक रूप से रस सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं तथापि, काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप से रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन अवश्य किया गया है। रीतिकार आचार्य वामन ने रीतिविवेचन के अन्तर्गत, आचार्य रुद्रट् ने अलङ्कार के अन्तर्गत, ध्वनिकार ने ध्वनि के अन्तर्गत तथा वक्रोक्तिकार ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत रस की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि रस को काव्यशास्त्र के एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में लगभग सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है तथापि, काव्यशास्त्र में भोजराज, आचार्य क्षेमेन्द्र, आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे काव्यशास्त्र के प्राणतत्त्व के रूप में स्थापित किया। धारानरेश भोजराज ने **सरस्वतीकण्ठाभरण** तथा **शृंगारप्रकाशसंज्ञक** दोनों ग्रन्थों में रस की विवेचना की है। अपने **सरस्वतीकण्ठाभरण** में भोजराज ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति , वक्रोक्ति तथा रसोक्ति, इन तीन रूपों में विभक्त कर इन तीनों में रसरूपिणी रसोक्ति को ही वाङ्मय का श्रेष्ठ रूप, निरूपित किया है-

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।

सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥

- **सरस्वतीकण्ठाभरण,05/08.**

काव्यशास्त्र में औचित्यसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र रस को काव्य का प्राणतत्त्व तथा औचित्य को इस रस का जीवितभूत तत्त्व मानते हैं : -

औचित्यस्य चमत्कारकारश्चारुचर्वणे।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुते अधुना॥

-औचित्यविचारचर्चा, का0-03.

TESLA

साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र, ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजनों में आनन्द तत्त्व को प्रतिष्ठित कर रस को ही काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में स्थापित किया तथा रस एवं ध्वनि के द्वारा उसे अभिव्यङ्ग्य के रूप में व्यवस्थापित किया। रससिद्धान्तवादी आचार्यों की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने काव्यलक्षण में रस को काव्य के प्राणतत्त्व या आत्मतत्त्व के रूप में स्थापित किया-

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।

- साहित्यदर्पण।

इनके अनुसार तमो गुण तथा रजो गुण को अभिभूत कर सत्त्व गुण का उद्रेक एवं प्राबल्य होने पर अखण्ड, अद्वितीय, प्रकाशमान, वेद्यान्तररहित, ब्रह्मानन्दसहोदर, आनन्दमय रस, प्रादुर्भूत होता है :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्य प्रकाशानन्दचिन्मयः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वादसहोदरः॥

-साहित्यदर्पण.

ये सभी अवस्थाओं में रस को सुखमय निरूपित करते हैं। करुण रस की सुखात्मकता के विषय में इनका कहना है कि करुणादि की भी सुखरूपता सहृदयहृदयों के अनुभव के आधार पर सिद्ध है

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

साहित्यदर्पण, 03.45.

रसवादी आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनके द्वारा स्थापित रससिद्धान्त, वेदान्त पर अवलम्बित है। इन्होंने रस को आत्मानन्द के समान माना है

अस्त्यत्रापि रसो वै सः, रस ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इत्यादिश्रुतिः।

-रसगङ्गाधर,पृ0-11.तृ0सं0.चौ0विद्या0भ0 वाराणसी।

आचार्य जगन्नाथ के अनुसार रस, आत्मानन्द के सदृश माना गया है। इनका कहना है कि जिस प्रकार तृणादि से ढका हुआ दीपक; उससे निरावृत्त होने पर, समीपस्थ पदार्थों के साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार, निरावृत्त चैतन्य की भी स्थिति मानी गई है। विभावादि से संवलित रत्यादि को प्रकाशित कर आत्मगत चैतन्य स्वयं भी प्रकाशित हो जाता है।

द्रष्टव्य- इंडो विजन प्राइवेट लिमिटेड

रसों की संख्या तथा स्वरूप -

TESLA

काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में रस तथा भावों का निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत मुनि, काव्य

में रस को सर्वोपरि मानते हैं। इनका कहना है कि काव्य में बिना रस के किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं किया जा सकता है :

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

नाट्यशास्त्र, 06/33.

आचार्य भरत ने रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया है

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

नाट्यशास्त्र, 06/33.

आचार्य भरत के इस रससूत्र को आधार बना कर भट्टलोल्ट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त, इन चार प्रमुख आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण से रससूत्र पर अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। साहित्य शास्त्र में ये चारों व्याख्याएँ, क्रमशः 1.उत्पत्तिवाद, 2.अनुमितिवाद, 3. भुक्ति वाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को आचार्य मम्मट ने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसकी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ, काव्यप्रकाश में विशद विवेचना की है। आचार्य मम्मट का कहना है कि लोक में चित्त में रत्यादि स्थायिभाव के उदय, विकास तथा तिरोभाव होने में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण होते हैं, साहित्यशास्त्र में उन्हें ही क्रमशः 1. विभाव, 2. अनुभाव तथा 3. व्यभिचारी भाव कहा जाता है। इन्हीं विभावादि के संयोग से व्यक्त स्थायिभाव को 'रस' कहते हैं।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।

-काव्यप्रकाश, 04/27.

काव्यशास्त्र के आचार्य, रसों की संख्या के विषय में एकमत नहीं हैं। भरतमुनि के अनुसार श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अदभुत रस के भेद से आठ रसों का प्रातिपादन किया गया है

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः

वीभत्साद्भुतसंज्ञश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

-ना.शा.06.15.

शान्तरस को इन्होंने नाट्य में स्वीकार नहीं किया। इसी से यह तथ्य भी सिद्ध हो जाता है कि भरत के समय नौ रसों के नाम प्रसिद्ध हो गए थे। विवेचित इन 8 रसों के अतिरिक्त शान्त, वात्सल्य तथा भक्ति रस का भी समावेश करने पर रसों की संख्या 11 हो जाती है। इन रसों की काव्य में प्रधानता तथा गौणता के विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। आचार्य भरत के अनुसार शृङ्गार, रौद्र, वीर, और वीभत्स ही प्रधान रस हैं। इन से ही हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रस उत्पन्न होते हैं। महाकवि भवभूति, एकमात्र करुण रस को ही मूल रस मानते

TESLA

हैं। इनका मानना है कि करुण रस ही प्रधान रस है। बाकी सारे रस, इसी से उत्पन्न होकर, इसी में, समुद्र से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होने वाली तरङ्गों के समान, विलीन हो जाते हैं

एको रसः करुण एव.......
......यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।
उत्तररामचरितम्, 3/49.

इसी प्रकार विभिन्न आचार्यों ने रस की भिन्न-भिन्न संख्या को स्वीकार करते हुए भिन्न भिन्न रस को महत्त्व प्रदान किया है। लौकिक साहित्य का प्रथम श्लोक; जो क्रौंच वध से मर्माहत महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ था वह रसमय ही था। अतएव रस को काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया।

1.5.2 अलङ्कार सम्प्रदाय

भरतमुनि के पश्चात् तथा आचार्य भामह से पूर्व आचार्य मेधाविरूद्र हैं। आचार्य मेधावी तथा मेधाविरूद्र का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। परन्तु अलङ्कार विवेचन में इनके उद्धरण यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। आचार्य मेधाविरूद्ध का प्रमुख सिद्धान्त उपमा के दोषों का विवेचन है। आचार्य मेधाविद्र ने अलङ्कारों के साथ-साथ शब्दों के विभाग-विवेचन के सम्बन्ध में भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

काव्यशास्त्र का द्वितीय सम्प्रदाय अलङ्कारसम्प्रदाय आचार्य भामह द्वारा प्रवर्तित है। परवर्ती आचार्य उद्भट, रुद्रट आदि ने इसका पोषण किया। दण्डी ने भी काव्य में अलङ्कारों के महत्त्व को स्वीकार किया है। अलङ्कारसम्प्रदाय में अलङ्कारों को ही काव्यत्व का प्रायोजक माना गया है।

तदेवमलङ्कार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ॥

अलङ्कारसर्वस्वम्

इनके अनुसार जैसे उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना उपहासास्पद है, उसी प्रकार अलङ्कार से रहित काव्य की कल्पना भी अस्वाभाविक है। अलङ्कारों की संख्या में क्रमशः विकास हुआ। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में चार ही अलङ्ररों का निर्देश किया है- यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक। यह तीन ही मूल अलङ्कार माने गए हैं। इनमें से प्रथम 'यमक' शब्दालङ्कार है, शेष तीन अर्थालङ्कार हैं। ये चार अलङ्कार ही कालान्तर में विकसित हुए और इनकी संख्या कुवलयानन्द में 125 हो गई। इस विकासक्रम में अलङ्कारों के स्वरूप में भी अन्तर पड़ता गया। भामह की वक्रोक्ति वामन की वक्रोक्ति से भिन्न रूप में दिखलाई देती है। अलङ्कारों के विभाजन के लिए भी पृथक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। रुद्रट ने सर्वप्रथम औपम्य, वास्तव, अतिशय तथा श्लेष को अलङ्कारों का मूल कहा। एकावलीकार विद्याधर ने बड़े ही युक्तिपूर्ण ढंग से इसका विवेचन किया है।

अलङ्कारसम्प्रदाय में अलङ्कारों को महत्त्व अवश्य प्रदान किया गया है, किन्तु साथ ही रस एवं ध्वनि के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। भामह ने रसवत, प्रेम, ऊर्जस्वी और समाहित इन चार अलङ्कारों में रस तथा भाव के समस्त विषय को अन्तर्निहित माना है। दण्डी तथा उद्भट ने रसवत् अलङ्कार का निरुपण कर आठ प्रकार के रसों एवं स्थायिभावों का

TESLA

उल्लेख किया है। आलङ्कारिक आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ को भी स्वीकार किया है। उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप, आदि अलङ्कारों के विवेचन क्रम में इसे इन्हीं में अन्तर्हित माना है। अलङ्कारों के विशिष्ट अनुशीलन एवं व्याख्या से वक्रोक्ति की परिकल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार अलङ्कारसम्प्रदाय में गुणों को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु इन्होंने अलङ्कारों को ही मुख्य काव्यनिर्वाहक धर्म माना है, रस को नहीं। अतः यहाँ रसादि अलङ्कारों के ही उपकारक अंग मात्र हैं अथवा अलङ्कार ही हैं। अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी रस की सत्ता मानते है, परन्तु उसे प्रधानता नहीं देते। उनके मतानुसार काव्य का प्राणभूत जीवनाधायक तत्व अलङ्कार ही है। अतः अलङ्कारवादी आचार्य काव्य में अलङ्कारों को ही प्रधान मानते हैं और उनका अन्तर्भाव रसवदलङ्कारों में करते हैं।

इस प्रकार अलङ्कारसम्प्रदाय काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें न केवल अलङ्कारों को महत्त्व प्रदान किया गया अपितु रस तथा ध्वनि के महत्त्व को भी स्वीकार करते हुए इनका अलङ्कारों में ही अन्तर्भाव माना है।

1.5.3 रीति सम्प्रदाय

रीतिसम्प्रदाय के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है- **'रीतिरात्मा काव्यस्य'।** गुणविशिष्ट पदरचना ही रीति कही जाती है। अतएव रीति सम्प्रदाय में गुणों का विशेष महत्त्व है। गुणों पर अवलम्बित होने के कारण इसे गुण सम्प्रदाय भी कहते हैं। दण्डी ने सर्वप्रथम वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली रीतियों के विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। किन्तु गुण तथा अलङ्कारों के भेद को पृथकतः प्रतिपादित करने का श्रेय वामन को ही जाता है। उन्होंने वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली रीतियों का विस्तृत विवेचन करते हुए गुण तथा अलङ्कारों का भेद भी स्पष्ट किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मान कर उसके दस-दस भेदों का वर्णन किया है। उन्होंने वैदर्भी रीति में सभी दस गुणों का सद्भाव माना है, जबकि गौडी के लिये ओज तथा कान्ति और पाञ्चाली के लिये माधुर्य और प्रसाद गुण ही आवश्यक हैं -

समग्रगुणा वैदर्भी, ओजः कान्तिमती गौडीया,

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।

वामन के अनुसार गुण का तात्पर्य 'काव्यशोभाकारक धर्म' हैं। **'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'** तथा **'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'** कहकर गुणों और अलङ्कारों का भेद बताया है तथा गुणों की महत्ता सिद्ध की है। वामन के अनुसार गुण काव्यशोभा के उत्पादक तत्त्व हैं जबकि अलङ्कार अभिवर्द्धक तत्त्व हैं। इस प्रकार काव्यशोभा कारक शब्द तथा अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना ही रीति कही जाती है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दसों गुणों का उल्लेख किया है। ये दस गुण हैं- श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। दण्डी ने भी वैदर्भ मार्ग का प्राण कहते हुए इनका उल्लेख किया है।

रीति शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- मार्ग अथवा गति। वामन के बाद इसका निरूपण विभिन्न रूपों में किया जाने लगा तथा इनकी संख्या में भी अन्तर आया। रुद्रट ने वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली तथा लाटीया रीति का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन के अनुसार पदसंघटना

TESLA

भी रीति का ही परिष्कृत रूप है जो रस आदि को व्यक्त करती है- **व्यनक्ति सा रसादिनाम्** (ध्व0) राजशेखर के अनुसार वचनविन्यास का क्रम ही रीति है- **वचनविन्यासक्रमो रीतिः।** आचार्य मम्मट ने 'रीति' की उपयोगिता स्वीकार की परन्तु उसे काव्य की आत्मा के स्थान पर शरीर के अवयव (अंग) के रूप में स्वीकार किया है- **रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्**। जिस प्रकार अवयवों की रचना शरीर की सुन्दरता के लिए आवश्यक है, किन्तु उसे काव्य की आत्मा नहीं कहा जाता सकता है। भोजराज ने रीति का अर्थ है- कवि गमन मार्ग माना है। उन्होंने छः रीतियाँ मानी हैं- वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली अवन्तिका, लाटीया तथा मागधी। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने भी रीति का विशद् विवेचन कर इसका समन्वित लक्षण प्रस्तुत किया- **पद संघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकी रसादीनाम्-** (सा0द0 9/1)। उन्होंने चार रीतियाँ स्वीकार की हैं- वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटिका। इस प्रकार काव्यरचना की विशेष शैली अथवा पद्धति ही रीति है। विविध प्रदेशों में विशेष प्रयोग होने से यह उन्हीं प्रदेशों के नामों से प्रसिद्ध हुई।

अलङ्कार तथा गुण का भेद स्पष्ट करने में रीति सम्प्रदाय का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय ने काव्यशास्त्र को आलोचना की नवीन दृष्टि प्रदान की। वामन ने काव्य में शोभा करनवाले धर्म को गुण कहा तथा अतिशय करनेवाले धर्म को अलङ्कार कहा है। भामह ने रस को अलङ्कार कह कर उसे काव्य का बहिरंग साधन माना जबकि वामन ने कान्ति गुण के अन्दर रस का अन्तर्भाव कर काव्य में रस के महत्त्व पर विशेष बल दिया तथा ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में किया है। इस प्रकार रीतिसम्प्रदाय अलङ्कारसम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक व्यापक है एवं हृदयग्राही है।

1.5.4 वक्रोक्ति सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही किया जाता रहा है। आलङ्कारिक आचार्य भामह के अनुसार वक्र शब्दों का प्रयोग काव्य का अलङ्कार ही होता है- **वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः (काव्यालङ्कार 1/36)।** उन्होंने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को पर्याय मानते हुए इसे अलङ्कारों का जीवनदायी तत्त्व कहा है।

आचार्य अभिनवगुप्त भी वक्रोक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं- **शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्,** अर्थात् लोकोत्तर रूप से शब्द अर्थ की अवस्थिति ही शब्द तथा अर्थ की वक्रता है। दण्डी दो प्रकार की उक्ति मानते हैं - स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्ति । उनके मत में स्वाभाविक कथन से भिन्न एवं विशिष्ट वक्रोक्ति का स्वरूप होता है। वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य-उत्पत्ति की की कल्पना की गई है। वामन तथा रुद्रट ने वक्रोक्ति को अलङ्कार के रूप में ही स्वीकार किया है, इसी का अनुकरण परवर्ती आचार्यों मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी किया है। किन्तु आचार्य कुन्तक ने भामह तथा दण्डी का विचारों का अनुसरण करते हुए अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा वक्रोक्ति के नवीन स्वरूप की स्थापना की तथा वक्रोक्ति नामक नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते

(वक्रोक्ति जीवितम् 1/11)

TESLA

इस प्रकार वक्रोक्ति का अभिप्राय होगा कवि कौशल पर आधारित जन साधारण से विलक्षण प्रकार का कथन। आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का प्राण कहते हैं। यह मुख्यतः पाँच प्रकार की होती है- वर्णवक्रता, पदवक्रता, वाक्यवक्रता, अर्थवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता। उनके अनुसार ध्वनि तथा व्यङ्ग्य के समस्त प्रपञ्चों का समावेश वक्रोक्ति में ही हो जाता है। वक्रोक्ति जीवित में वैचित्र्यवक्रता आदि के अन्तर्गत ही उचित रस तथा भाव आदि की योजना द्वारा ही काव्य में चारुता उत्पन्न हो जाती है। इस सम्प्रदाय में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज गुणों सहित अलङ्कारों का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में ही किया गया है -

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो विद्यते यः सहस्त्रधा। यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ

सर्वोऽप्यन्तर्मविष्यति।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त विलक्षण तथा मौलिक है, किन्तु परवर्ती काल में इसका अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया तथा वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार ही माना जाने लगा। वस्तुतः वक्रोक्ति को बीज रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य भामह को है तथा उस बीज को पूर्णरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को ही प्राप्त है।

1.5.5 ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय का मूल वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त ही माना जाता है। इसके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं, तथापि इसकी उद्‌भावना पूर्व में ही हो चुकी थी। ध्वनिकार स्वयं कहते हैं- **काव्यस्य आत्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात् पूर्वः** (ध्वन्यालोक)। इसके पूर्व भी अलङ्कारिक आचार्यों ने पर्याय, समासोक्ति आदि अलङ्कारों के निरुपण में एक प्रतीयमान अर्थ स्वीकार किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्‌भट तथा वामन आदि को ध्वनि में साक्षी माना है। पूर्वकाल में भी ध्वनि का विरोध होता रहा है। आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार के ध्वनि विरोधियों का उल्लेख किया है- प्रथम अभाववादी, जो ध्वनि का अभाव मानते रहे हैं। द्वितीय भक्ति वादी, ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव मानते हैं। तृतीय अनिर्वचनीयतावादी, जो इसे वाणी का अविषय मानते हैं। इन विरोधों का परिहार करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनिवाद की स्थापना कर साहित्यशास्त्र में एक नवीन सूक्ष्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार रस सदा व्यङ्ग्य ही हुआ करता है, यह वाच्य नहीं होता। उन्होंने युक्ति पूर्वक व्यङ्ग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है तथा ध्वनि के तीन मुख्य भेदों का निरुपण किया- रस, वस्तु तथा अलङ्कार; इनके भी अनेक भेद हैं। रसादि में भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि का समावेश है। ध्वन्यालोक में भी **काव्यस्यात्मा ध्वनिः** कहकर ध्वनि को काव्य का मूल तत्त्व कहा गया है। यहाँ काव्यात्मा से तात्पर्य रस तत्त्व से ही है। 'ध्वन्यालोकलोचन' में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है**- तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।**

ध्वनि का स्वरूप बतलाते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि वह काव्य विशेष ध्वनि है. जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकट करते हैं, यह प्रतीयमान अर्थ विलक्षण ही होता है, जो रमणियों के लावण्य के समान महाकवियों की वाणी से अभिव्यक्त होता है

TESLA

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्नासु॥

(ध्वन्या01/4)

ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए उन्होंने गुण, अलङ्कार तथा पदसंघटना रूप रीति आदि के साथ ध्वनि का सम्बन्ध स्थपित किया है। ध्वनि एक व्यापक अर्थवाला शब्द है। 'ध्वन्यालोकलोचन' में इसके पाँच अर्थ कहे गए हैं- 1. शब्दध्वनि जो ध्वनित करता है; **ध्वनति यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः।** 2. अर्थध्वनि जो ध्वनि करता या कराता है; **ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः।** 3. व्यङ्ग्य अर्थ जो ध्वनित किया जाता है; **ध्वन्यते इति ध्वनिः इति** अर्थात् रसादि, वस्तु तथा अलङ्कार रूप अर्थ। 4. शब्दार्थ व्यापार जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है, **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः** अर्थात् व्यञ्जना व्यापार। 5. ध्वनिकाव्य जिसमें वस्तु अलङ्कार तथा रसादि ध्वनित होते हैं; **ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः** अर्थात् ध्वनिप्रधानकाव्य। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त विविध सम्प्रदायों में समन्वय की ओर संकेत करता है। यहाँ गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्य-तत्त्वों का सुन्दर सन्तुलित व्यवस्थापन दिखलाई पड़ता है।

1.5.6 औचित्य सम्प्रदाय

अलङ्कारशास्त्र के विविध सम्प्रदायों में औचित्य सम्प्रदाय अपना पृथक् स्थान रखता है। इसके अनुसार औचित्य की भावना ही रस, ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। सभी प्राचीन साहित्याचार्यों ने औचित्य की रक्षा को महत्त्वपूर्ण माना है। औचित्य का विचार अत्यन्त प्राचीन है। नाट्यशास्त्र में वेषभूषा आदि के औचित्य पर विचार किया गया है

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ (नाट्य023/69)

आनन्दवर्धनाचार्य भी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि रस का परमरहस्य यह औचित्य ही है और औचित्य का अभाव ही रस भङ्ग का हेतु है -

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (ध्वन्या03/14)

आनन्दवर्धन ने औचित्य पर विस्तृत विमर्श प्रस्तुत किया है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का जीवनभूत प्राणतत्त्व कहकर औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में 'औचित्य' का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। औचित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥' (औचित्य07)

अर्थात् जो जिसके अनुकूल है वही उचित कहा जाता है और उचित के भाव को ही औचित्य कहा जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, अलङ्कार, रस,

TESLA

क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, देश तथा काल आदि के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इनके औचित्य को सिद्ध किया है।

वस्तुतः औचित्य के बिना न तो अलंकार ही आनन्द उत्पन्न करता है न ही गुण। अलंकार और गुण की आनन्द विधायिका शक्ति औचित्य पर ही आश्रित रहती है। मम्मट इस तथ्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए व्याख्यायित करते हैं

अपसारय घनसारं, कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।।

यहाँ लकार प्रयोग (कमलैः अलम् अलम् आलि मृणालैः बाला) तथा गलितप्राय पदों का विन्यास माधुर्य का व्यज्जक होने से सर्वथा उचित है। इसी प्रकार रस, वृत्त, नाम आदि का औचित्य काव्य में शोभाधायक होता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का औचित्य विचार काव्य विवेचन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

।इति।।

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **काव्यशास्त्र में कितने सम्प्रदाय हैं? .**
   क. 3 ख. 2 ग.5 **घ. 6**
2. **निम्नलिखित आचार्यों में से किस आचार्य का सम्बन्ध रससम्प्रदाय से है?**
   क. कुन्तक ख. क्षेमेन्द्र ग. वामन **घ. पंडितराज जगन्नाथ**
3. **क्षेमेन्द्र किस सम्प्रदाय के आचार्य हैं?**
   क, रस ख. रीति **ग. औचित्य** घ. गुण
4. **ध्वनिकार कौन हैं?**
   क. अभिनवगुप्त ख. मम्मट ग. विश्वनाथ **घ. आनन्दवर्धन**
5. **वामन किस सम्प्रदाय के आचार्य हैं?**
   क. रीति ख. ध्वनि ग. रस घ. अलङ्कर
6. **निम्नलिखित आचार्यों में से अलङ्कारसम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्य कौन है?**
   क. भामह ख. जगन्नाथ ग. भरत घ. कुन्तक

1.7 लघुउत्तरीय प्रश्न

संक्षिप्त टिप्पणी लिखें

क. काव्यस्यात्मा ध्वनिः

ख. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

ग. रीतिरात्मा काव्यस्य

घ. रसो वै सः

TESLA

इकाई- 2

काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मङ्गलाचरण

2.3 काव्य-प्रयोजन

2.4 काव्यहेतु

2.5 काव्यलक्षण

2.5.1 आलोचना

2.5.2 मम्मट के काव्य-लक्षण की विशेषता

2.6 काव्य-भेद

2.6.1 उत्तमकाव्य (ध्वनि काव्य)

2.6.2 मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य)

2.6.3 अवर काव्य (चित्र काव्य)

2.7 बोध प्रश्न

2.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् छात्र-

मम्मटकृत काव्यप्रकाश के मङ्गलाचरण के अनुसार ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि- काव्य रचना की श्रेष्ठता का सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त करेंगे, तदनन्तर काव्य के प्रयोजनों का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

- मम्मटकृत काव्य-लक्षण के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- मम्मटकृत काव्य-हेतु के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्य के त्रिविध भेदों के विषय में जान सकेंगे।
- उत्तम काव्य, मध्यम काव्य तथा अधम काव्य की परिभाषाओं को समझ सकेंगे।
- इसी इकाई में अध्ययनकर्ता प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय उल्लास में समागत समस्त कारिकाओं की हिन्दी मे की गई व्याख्याओं को समझ सकेंगे।

TESLA

2.1 प्रस्तावना

वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने सम्पूर्ण काव्यस्वरूप के ज्ञान के लिए दस उल्लासों में साहित्यशास्त्र में अत्यन्त अद्भुत ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध 'काव्यप्रकाश' नामक इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ग्रन्थकार ने अपने इस ग्रन्थ की रचना, 1. कारिका, 2. सूत्र, तथा 3. कारिका तथा सूत्र की विवरणात्मक संक्षिप्त व्याख्या के माध्यम से की है। ग्रन्थकार ने काव्यशास्त्रों के स्पष्टीकरणार्थ अपने इस लक्षण ग्रन्थ में अनेक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों का संग्रह किया है।

यह काव्यप्रकाश ग्रन्थ, काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना करने वाले ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके द्वारा निर्मित 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ पर 'लोचन' टीका लिखने वाले आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा का ग्रन्थ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में 'वाच्य' तथा 'लक्ष्य', इन दोनों प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न, शब्द द्वारा होने वाले तृतीय व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति को अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। इसी ध्वन्यालोक की शैली का अनुसरण करते हुए आचार्य मम्मट ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र के प्रकाशक इस लक्षण ग्रन्थ का निर्माण किया है अतः इसे 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के वार्तिक ग्रन्थ की श्रेणी में स्थापित किया जा सकता है।

वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने इस काव्यप्रकाश नामक लक्षण ग्रन्थ का प्रारम्भ प्रथम उल्लास में भारतीय शिष्टाचार की परम्परा का पालन करते हुए मङ्गलाचरण से किया है। इस मङ्गलाचरण में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि के द्वारा निर्मित काव्यरचना की श्रेष्ठता को 1. नियतिकृतनियमों से रहित, 2. एकमात्र आह्लादमय, 3. सर्वथा स्वतन्त्र, तथा 4. नवों रसों द्वारा आकर्षक, इन चार हेतुओं द्वारा प्रकाशित किया है।

2.2 मङ्गलाचरण

प्रत्येक कार्य के आरम्भ के पूर्व मङ्गलाचरण करने की भारतीय परम्परा रही है। प्रायः संस्कृत के सभी ग्रन्थों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण प्राप्त होता है। विघ्नविघात या समाप्ति को मङ्गलाचरण का प्रयोजन माना गया है। अलङ्कारशास्त्र, काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के अप्रतिम ग्रन्थ, काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट अपने काव्यशास्त्रीय या साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यप्रकाश के निर्विघ्न समाप्ति की कामना से वाङ्मय की अधिष्ठात्री कविभारती का इष्टदेवता के रूप में स्मरण करते हैं। ग्रन्थकार, विधाता ब्रह्मा के जगन्निर्माण की अपेक्षा कविकृत वाङ्निर्माण को उत्कृष्टतर समझते हैं। अपने इसी आशय को वे **नियतिकृत...** इस मङ्गलाचरणात्मिका कारिका के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

काव्यप्रकाश 01/01

नियतिकृतनियमरहितां (जो) नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से जो रहित है। **ह्लादैकमयीम्** (जो) केवल आह्लाद (आनन्द) से परिपूर्ण है। **अनन्यपरतन्त्राम्** (जो) अपने अतिरिक्त अन्य किसी से नियन्त्रित नहीं है, अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र है। **नवरसरुचिरां** अपने

TESLA

शृंगारादि नवों रसों के कारण आकर्षक है, ऐसी **निर्मितिमादधती** (काव्य) सृष्टि का निर्माण करने वाली **कवेर्भारती जयति** कवि की वाणी, अर्थात् कवि की सरस्वती विजय को प्राप्त होती है।

प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की वाक्सृष्टि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। इस श्रेष्ठता के लिए आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित चार आधार प्रतिपादित किए हैं, 1- ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की काव्यरूपिणी सृष्टि इसलिए श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि अदृष्ट अथवा असाधारण धर्मरूप 'नियति' की शक्ति से आबद्ध रहती है। इसके आधार पर ही मनुष्य को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से मुक्त है। कवि अपनी इच्छा से अपने पात्रों को विघ्न में अथवा सुख में डाल सकता है। इसलिए कवि की शक्ति ब्रह्मा के सामर्थ्य से अधिक है। 2- ब्रह्मा की सृष्टि का स्वरूप, सुख-दुःख तथा मोहात्मक है। परन्तु कवि के रचना संसार में दुःख का कोई स्थान नहीं है। कवि की सृष्टि में रूदन और क्रंदन से भरा करुणरस भी आनन्दस्वरूप ही होता है। 3- ब्रह्मा की सृष्टि, 'परमाणु' आदि उपादान कारण तथा कर्मादि सहकारी कारणों के पराधीन रहती है। परन्तु कवि की सृष्टि के लिए कवि को अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। 4- ब्रह्मा की सृष्टि, छह रसों से युक्त है जिनमें कटु, कषायादि रस भी हैं जो, मनोरम नहीं हैं। परन्तु कवि के रचना संसार में छः रसों के स्थान पर शृंगार, वीर आदि नौ रस होते हैं और ये सभी नौ रस आनन्दमय होते हैं। इन चारों दृष्टियों से कवि की वाक्सृष्टि, विधाता की सृष्टि की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध हो जाती है। ब्रह्मा की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट सृष्टि की रचना करने वाली कवि-भारती 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्षशालिनी है। इस प्रकार लिखकर आचार्य मम्मट ने कवि भारती का जय जयकार किया है।

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारापरतन्त्रषड्रसा, न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम्। एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः अत एव जयति। जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ।।1।।

इसी प्रथम उल्लास में मङ्गलाचरण के अनन्तर 'काव्य' के छह प्रयोजनों का निरूपण कर काव्य के निर्माण तथा उसकी उत्कृष्टता के साधन के रूप में शक्ति , निपुणता तथा अभ्यास, इन तीनों के सम्मिलित रूप से एक हेतु के रूप में स्थापित किया है।

2.3 काव्य-प्रयोजन

प्रथम कारिका में मङ्गलाचरण प्रस्तुत करने के अनन्तर काव्यप्रकाश की द्वितीय कारिका में काव्य-निर्माण के प्रयोजनों का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि जिसका प्रारम्भ किया जा रहा है, उस काव्यप्रकाश ग्रन्थ के प्रयोजन का प्रतिपादन किया जाना उचित था परन्तु, इस ग्रन्थ का विषय जो अभिधेय है, जिसका प्रतिपादन किया जाना है, वह सप्रयोजन है अर्थात् काव्य का लक्षण, काव्य के भेद, गुण, दोष तथा अलङ्कार, ये सारे काव्य के विषयभूत पदार्थ हैं, ये ही काव्य के प्रयोजन की सिद्धि में प्रमुख साधन हैं अतः ग्रन्थ के विषय की प्रयोजनवत्ता से ग्रन्थ की सप्रयोजनता का प्रतिपादन करते हुए द्वितीय कारिका में ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने छह प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है

TESLA

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

काव्यप्रकाश 01/02

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणा - दीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयं ।।2।।

काव्य का निर्माण, 1.**यश** के लिए, 2. **अर्थ** (धन की प्राप्ति) के लिए, 3. **लोक**-व्यवहार के ज्ञान के लिए, 4. **शिवेतर**- अनिष्ट या अकल्याण के **विनाश** के लिए, 5. **सद्यः**-तत्क्षण **परम आनन्द की प्राप्ति** के लिए तथा 6. स्त्री के (वचनों के समान) **रस भरे** शब्दों से कर्त्तव्याकर्त्तव्य के उपदेश के लिए होता है।

आचार्य मम्मट की प्रस्तुत कारिका में पाँचवें क्रमाङ्क पर विद्यमान **सद्यः-** तत्क्षण **परम आनन्द की प्राप्ति,** को काव्यरचना का मुख्य प्रयोजन तथा अन्य सभी प्रयोजनों को इसकी अपेक्षा गौण माना गया है। इस कारिका की व्याख्यात्मिका वृत्ति में सभी प्रयोजनों को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण प्रदर्शित किए गए हैं।

प्रथम **यशसे** के उदाहरण के रूप में कालिदासादि का निदर्शन किया गया है। कालिदास तथा आदि पद से उनके सदृश दण्डी, भारवि, बाण, जैसे कवियों को काव्यनिर्माण से जैसे अलौकिक यश की प्राप्ति हुई, वैसे ही यश की प्राप्ति, वह प्रयोजन है, जिसे ध्यान में रख कर कवि काव्यनिर्माण में प्रवृत्त होता है।

द्वितीय प्रयोजन '**अर्थकृते**' से धन की प्राप्ति, प्रतिपादित की गई है। धावक को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। धावक ने रत्नावली नाटिका का निर्माण करके महाराज श्रीहर्ष से प्रभूत धन प्राप्त किया, ऐसी प्रसिद्धि है। आदि पद से इसी प्रकार भोजप्रबन्ध के रचनाकारों ने भोजराज से तथा माघमहाकाव्य के रचनाकारों ने माघ नामक वैश्य से धन प्राप्त किया, ऐसे अर्थ का अनुसन्धान किया जाना चाहिए, ऐसा सुधासागरटीका में उल्लेख मिलता है। (का.प्र. प, 58. नागप्रकाशक, दिल्ली, प्र.संसकरण, 1955.)

तृतीय प्रयोजन '**व्यवहारविदे**' से व्यवहारज्ञान का अभिप्राय राजादिगत उचिताचार के सम्यक् ज्ञान से है। सर्वसाधारण व्यक्ति; राजादि के सन्दर्भ में कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित रहता है। काव्य-नाट्य आदि में पात्रों के चरित्र-चित्रण के द्वारा सहृदयों में लोक-व्यवहार का परिज्ञान होता है। विशेषतः राजादि के प्रति किस प्रकार का शिष्टाचार व्यवहार में लाना चाहिये, इस बात का ज्ञान साधारण मनुष्यों को काव्यों के द्वारा सहज ही हो जाता है।

TESLA

काव्य-निर्माण का चतुर्थ प्रयोजन **शिवेतरक्षतये** अर्थात् अशिव अथवा अमङ्गल का निवारण। तात्पर्य यह है कि अनिष्ट के निवारण के उद्देश्य से भी काव्य-रचना की जाती है। ऐसी प्रसिद्धि है कि बाणभट्ट के मित्र मयूर कवि को शापवशात् कुष्ठरोग हो गया था। तब उन्होंने सूर्यदेव की स्तुति में सौ श्लोकों के काव्य की रचना की जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उन्हें स्वस्थ कर दिया। कालान्तर वह काव्य 'सूर्यशतक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

काव्य-रचना का पञ्चम उद्देश्य **सद्यः परनिर्वृतये** है। काव्य श्रवण अथवा पाठ के साथ ही काव्य के रसास्वादन से होने वाले परम आनन्द की प्राप्ति। तात्पर्य यह है कि काव्य का पाठ करने से या उसके श्रवण से विभावानुभावसंचारी भावों का जो संयोजन होता है उसके तत्काल बाद (अविलम्बेन) होने वाले आनन्द की प्राप्ति काव्य निर्माण का प्रयोजन है। इसे ही 'सद्यः परनिर्वृति' शब्द से कहा गया है। यह अलौकिक आनन्दानुभूति की अवस्था है। जिस प्रकार योगी पुरुष को समाधि की दशा में अन्य लौकिक पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता है, उसी प्रकार रसयिता भी काव्यानुशीलन के समय सांसारिक तापों से निवृत्त होकर विलक्षण आनन्द का अनुभव करता है। आचार्य मम्मट इसे उपर्युक्त सभी प्रयोजनों में प्रधान मानते हैं।

काव्य-निर्माण के छठे प्रयोजन **'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'** का उल्लेख करते हुये मम्मटाचार्य कहते हैं कि प्रेयसी के समान सुमधुर शैली में उचितानुचित का उपदेश भी काव्य सर्जना का प्रयोजन है। इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने तीन प्रकार की उपदेश शैली का उल्लेख किया है

1. प्रभुसम्मित अर्थात् राजाज्ञा अथवा स्वामी के समान आदेशपूर्वक दिया गया उपदेश, यथा वेदादि शास्त्रों में प्रतिपादित कर्त्तव्याकर्त्तव्य प्रभुसम्मित उपदेश है। यह शब्दप्रधान शैली है जिसका अक्षरशः पालन करना अनिवार्य होता है।
2. सुहृदसम्मित अर्थात् मित्रों की भाँति लाभ-हानि के वर्णन के द्वारा किसी कार्य में प्रवृत्त होने अथवा न होने का उपदेश, यथा पुराणादि का उपदेश। यह उपदेश शैली शब्द प्रधान न होकर अर्थप्रधान होती है और इसमें अभिप्राय समझ कर उसका अनुसरण किया जाता है।
3. तृतीय उपदेश कान्तासम्मित है, जिस प्रकार प्रेयसी अपनी सुललित शैली से प्रियतम को अपनी बात सुनने के लिये आकर्षित कर लेती है तथा किसी कार्य को करने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार काव्य भी सरसतापूर्वक श्रोता को रसमग्न करके जीवनोपयोगी शिक्षा प्रदान करता है। इस शैली में रस की प्रधानता होती है। काव्य के रसास्वादना के साथ-साथ मुनष्य को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भी ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार मम्मटाचार्य ने काव्य के षड् प्रयोजनों का वर्णन उपर्युक्त कारिका में किया है। इनमें से प्रथम तीन का कवि से सम्बद्ध हैं तो अन्त के तीन का सम्बन्ध सहृदय (पाठक) से है तथा कुछ दोनों से सम्बन्ध रखते हैं। उनके द्वारा वर्णित ये काव्य-प्रयोजन अत्यन्त व्यापक हैं जिनमें उत्तम, मध्यम तथा अधम तीनों ही प्रकार के काव्यों के प्रयोजनों का समावेश हो जाता है। यद्यपि लोकव्यवहार, उचितानुचित का उपदेश, अनिष्ट निवारण अर्थ एवं यशकामना काव्य के प्रयोजन हैं तथापि मम्मट ने आनन्दानुभूति को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन माना है। इसलिए ग्रन्थकार ने उसके साथ **विगलितवेद्यान्तरम्** और **सकलप्रयोजनमौलिभूतम्** इन दो विशेषणों को जोड़ा है।

TESLA

2.4 काव्यहेतु

काव्य प्रयोजन का प्रतिपादन करने के अनन्तर आचार्य मम्मट काव्य के उद्भव के हेतुओं का वर्णन करते हैं। प्रस्तुत कारिका में उन्होंने कवि की उन विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिसके द्वारा सहृदयों को आह्लादित करने वाले काव्य का स्फुरण होता है

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

-का0प्र0 1/3

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गग - जतुरगखङ्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।।3।।

काव्य रचना के लिये कवि में स्वाभाविक प्रतिभा रूप कवित्वशक्ति, लोक-व्यवहार, शास्त्र तथा काव्यादि के निरीक्षण से उत्पन्न **निपुणता** तथा काव्यशास्त्र के आचार्यों की शिक्षा के अनुरूप काव्य निर्माण का **अभ्यास** करना यह तीनों ही काव्य के उद्भव के कारण हैं। मम्मट ने शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास को सम्मिलित रूप में काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु कहा है न कि पृथक्-पृथक् – **त्रयः समुदिताः न तु व्यस्ताः** ।

आचार्य मम्मट ने काव्यहेतुओं में 'शक्ति' को सर्वप्रथम स्थान दिया है। शक्ति से उनका आशय कवित्व व्यापार का बीजरूप संस्कार विशेष है। यह कवि की सहज शक्ति है जिसके कारण कवि के हृदय में कविता के भावों का उद्भव होता है। सामान्य जनों की अपेक्षा कवि में यह विलक्षण एवं दिव्य-दृष्टि से युक्त होती है। इसे ही अन्य आचार्यों ने 'प्रतिभा' कहा है। यह काव्य सर्जना का कारण मात्र नहीं अपितु काव्यगत चमत्कार का उद्भावक भी है। इसके अभाव में काव्य-सृजन सम्भव नहीं है, तथापि कवित्व शक्ति से रहित कोई व्यक्ति काव्य-रचना करता भी है तो वह काव्य उपहासास्पद ही होता है। उसे सहृदय का सम्मान नहीं प्राप्त होता है।

काव्य-हेतुओं में मम्मट द्वितीय स्थान 'निपुणता' को देते हुए इसका अर्थ लोक में प्रचलित धारणाओं, कथाओं, शास्त्र तथा काव्य आदि के निरीक्षण तथा अनुशीलन से उत्पन्न व्युत्पत्ति कहा है। विषयों का भली-भाँति ज्ञान तथा रसादि का दृढतर संस्कार ही व्युत्पत्ति है। व्युत्पन्न कवि चराचर जगत् के व्यवहारों के निरीक्षण के द्वारा तथा विविध शास्त्रों यथा- पिंगलकृत छन्दशास्त्र, पाणिनि आदि कृत व्याकरण, कोश, व्याकरण, नृत्य-संगीत आदि कलाओं, स्मृति-धर्मशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, न्यायशास्त्र, हस्ति-तुरग आदि विद्याएँ तथा धनुर्वेद आदि से सम्बद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से विविध अनुभवों एवं ज्ञान को प्राप्त करता है। वाल्मीकि आदि महाकवियों के महाकाव्यों के परिशीलन से ये संस्कार दृढतर होते जाते हैं। इस प्रकार विविध विद्याओं के पाण्डित्य से परिपूर्ण कवि का काव्य उत्कर्ष को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में; लोकाचार के निरीक्षण से, शास्त्रों के अनुशीलन से, महाकाव्यों के आस्वादन से तथा इतिहासादि के विमर्श से अर्जित अनुभूतियों एवं पाण्डित्य को ही निपुणता कहा गया है।

TESLA

काव्य हेतु में तृतीय स्थान 'अभ्यास' का है। काव्यज्ञों की शिक्षाओं के अभ्यास भी काव्य के निर्माण तथा उत्कर्ष का हेतु है। यहाँ काव्यज्ञ का आशय काव्यशास्त्र के आचार्यों तथा समालोचकों से है। कवित्व शक्ति तथा निपुणता से युक्त कवि काव्यशास्त्र के आचार्यों की शिक्षाओं के निरन्तर अभ्यास के द्वारा अपनी कविता को उत्कृष्टता प्रदान करता है।

'इति हेतुस्तदुद्भवे' अर्थात् शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास यह तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य-निर्माण के हेतु हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ जिस प्रकार कुलाल, दण्ड, चक्रादि सभी मिलकर घट का निर्माण करते हैं इसी प्रकार शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास भी समुदित रूप से काव्योद्भव में हेतु होते हैं, अलग-अलग नहीं। दण्डचक्रादिन्यायेन यह तीनों मिलकर एक कारण होते हैं। इसीलिये कारिका में आचार्य मम्मट ने **'हेतुः'** एकवचन प्रयोग किया है। अन्यथा यदि यहाँ तीन हेतु स्वीकार किये जाते तब **'हेतवः'** बहुवचन का प्रयोग होता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इनमें एक भी हेतु काव्य की उत्पत्ति में समर्थ है तथापि काव्य के उत्कर्ष के लिये इनका साथ होना अनिवार्य है।

आचार्य मम्मट ने इसी प्रथम उल्लास की चतुर्थ कारिका में काव्य के लक्षण (स्वरूप) का भी प्रतिपादन किया है। इन्होंने दोषरहित, गुणसहित तथा स्फुट रूप से सालङ्कार होने पर भी कहीं पर अलङ्कारों की स्फुटता न रहने पर भी ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य के रूप में स्थापित किया है।

2.5 काव्यलक्षण

काव्य के प्रयोजन तथा हेतु का कथन करने के अनन्तर आचार्य मम्मट इसके लक्षण का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि किसी भी पदार्थ का अव्यापि, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषों से रहित लक्षण करना स्वतः ही कठिन कार्य है, उस पर भी काव्य जैसे दुरूह पदार्थ का निर्दुष्ट लक्षण करना और भी कठिन कार्य है। तथापि मम्मट ने प्रयत्न पूर्वक काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया है। उन्होंने अपने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों यथा दण्डी, भामह, वामन आदि के काव्य-लक्षण का समन्वय करते हुये सर्वथा नवीन काव्य लक्षण का प्रतिपादन किया है।

सूत्र-1 तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

दोष गुणालंकारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौक्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।।

अर्थात्, ऐसे शब्द और अर्थ (तत् शब्दार्थौ) जो काव्यत्व विघातक दोषों से रहित (अदोषौ) हैं तथा माधुर्यादि गुणों से युक्त हों, चाहे वह स्फुट अलंकार से रहित (अनलङ्कृती) भी हैं, काव्य कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है, सर्वत्र सालङ्कार शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं, किन्तु कहीं-कहीं स्फुट अलङ्कार न भी हो तो वहाँ काव्य दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त होने पर काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे -

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते
चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ

TESLA

रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।1।।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता।

अर्थात् यद्यपि मेरा प्रियतम वही है जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया, ये वही चैत्र की रात्रियाँ हैं। विकसित मालती की सुगन्ध वाली, कदम्ब-वृक्षों से बहने वाली उन्मादक हवाएँ भी वही हैं, जो पहले थीं और मैं भी वही हूँ। तथापि वहाँ नर्मदा के तट पर (रेवारोधसि) वेत्रलता के नीचे सुरत हेतु गमनादि व्यापार सम्बन्धी लीला के सम्पादन में मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है।

यहाँ कोई स्पष्ट अलंकार नहीं है और रस के प्रधान होने से (रसवद्लङ्कार के रूप में) उसको भी अलंकार नहीं कहा जा सकता है (क्योंकि वह रसवदलङ्कार रस के गौण होने पर ही होता है)।

मम्मट ने ऐसे शब्दार्थ-युगल को काव्य कहा है जो दोष-रहित, गुण से युक्त तथा अलङ्कारों से अलङ्कृत हो। यदि कहीं स्पष्ट अलङ्कार न भी हो तो वहाँ काव्यत्व की हानि नहीं है। इस काव्य-लक्षण के चार खण्ड हैं- शब्दार्थौं तत्, अदोषौ, सगुणौ एवं अनलङ्कृती पुनः क्वापि। यहाँ शब्दार्थौ विशेष्य है और अदोषौ, सगुणौ तथा अनलङ्कृती इसका विशेषण। शब्दार्थौं का तात्पर्य शब्द और अर्थ के युग्म से ग्रहण किया जाता है। कैसे शब्द और अर्थ का युग्म काव्य होगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर अदोषौ, सगुणौ, अनलङ्कृती कहा गया। वस्तुतः मम्मट शब्दार्थौं के द्वारा प्राचीन आचार्यों के **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** की मान्यता का समर्थन किया है। इसके द्वारा उन्होंने इतिहासादि से काव्य को पृथक करने का प्रयास किया है।

2.5.1 आलोचना

यहाँ साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने **अदोषौ** पद पर आक्षेप करते हुए इस काव्य-लक्षण की आलोचना की है। यदि दोषरहित शब्दार्थ को काव्य माना जाए तो इस प्रकार का सर्वथा दोष रहित काव्य संसार में मिलना असम्भव है।

साहित्यदर्पणकार के इस आक्षेप का निराकरण करते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने लक्षणगत 'अदोषौ' पद का औचित्य स्पष्ट किया है। यहाँ 'अदोषौ' पद का अभिप्राय काव्यत्व के विघातक च्युतसंस्कारादि दोषों से है। वस्तुतः रसानुभूति में बाधक तत्त्व ही दोष हैं और अपनी प्रबलता के कारण रसानुभूति में बाधक प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ की समष्टि ही काव्य है। तात्पर्य यह है कि जहाँ साधारण दोषों के होते हुए भी रसानुभूति में बाधा नहीं होती है, वह शब्द और अर्थ भी काव्य ही है। अतः साधारण स्थिति के दुर्बल दोष के विद्यमान होने पर काव्यत्व की हानि नहीं होती है। स्वयं साहित्यदर्पणकार ने भी साधारण दोषों के रहते हुए भी काव्य में काव्यत्व स्वीकार किया है। साहित्यदर्पणकार ने माना है कि जिस प्रकार कीडों से खाया प्रवाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्टरूप से होती है वहाँ दोष के होते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

विश्वनाथ ने 'सगुणौ' पद पर दूसरा आक्षेप किया है- गुण तो रस के धर्म हैं, शब्द और अर्थ के नहीं। अतएव रस ही सगुण कहा जा सकता है। शब्दार्थ के युग्म को सगुण कहना उचित नहीं है।

TESLA

आचार्य मम्मट गुणों को रस का ही धर्म स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही वह शब्द और अर्थ के साथ भी इसका सम्बन्ध गौण रूप से मानते हैं। अष्टम उल्लास में उन्होंने गौणीवृत्ति से शब्द और अर्थ के साथ गुणों के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है और उसी दृष्टि से शब्दार्थों के विशेषण के रूप में सगुणौ पद का प्रयोग किया गया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ मम्मट के दिये काव्य के उदाहरण पर भी आक्षेप करते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार **यः कौमारहरः...** इस उदाहरण में स्पष्ट रूप से अलङ्कार नहीं है, न ही यहाँ रस की प्रधानता के कारण रसवदलङ्कार ही कहा जा सकता है, क्योंकि रसवदलङ्कार रस के गौण होने पर ही होता है।

इस उदाहरण का खण्डन करते हुये विश्वनाथ ने प्रस्तुत पद्य में विभावना तथा विशेषोक्ति अलङ्कारों की कल्पना करके **'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'** का खण्डन किया है। किन्तु यह आक्षेप भी उचित नहीं है क्योंकि मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में स्फुटालङ्कार विरह की बात कही है। प्रस्तुत उदाहरण में भी विभावना अथवा विशेषोक्ति अलङ्कार भावमुखेन नहीं, अभावमुखेन ही परिलक्षित होते हैं, अर्थात् वे स्पष्ट नहीं हैं अपितु बलपूर्वक ही उनका निदर्शन हो सकता है। अतएव विश्वनाथ के द्वारा की गई मम्मट के काव्य-लक्षण की आलोचना युक्ति संगते नहीं है।

2.5.2 मम्मट के काव्य-लक्षण की विशेषता

वस्तुतः मम्मटकृत काव्य-लक्षण कवि तथा सहृदय, कृति तथा अनुभूति दोनों से सम्बन्ध रखने वाला है। प्राचीन आचार्यों के मतों के साथ-साथ विविध काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के काव्य-लक्षण का भी इसमें समन्वय दिखलाई देता है। साहित्यदर्पणकार ने यद्यपि इसकी आलोचना अवश्य की है तथापि यह उससे कहीं अधिक व्यापक है। पुनश्च काव्य का स्वरूप अलौकिक है, यह लोकोत्तर वर्णना-निपुण कवि-कर्म है। अतः इसे किसी लक्षण या परिभाषा में बाँध पाना कैसे सम्भव है।

काव्यप्रकाशक मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण अन्य आचार्यों के काव्य-लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। काव्यलक्षण में 'अदोषौ' और 'सगुणौ' पद जोड़कर मम्मट ने काव्यलक्षण का नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है। मम्मट ने गुण-दोष की चर्चा काव्यलक्षण में करके काव्यलक्षण को पूर्णता प्रदान की है। कितना भी सुन्दर काव्य हो पर यदि उसमें एक भी उत्कट दोष आ जाए तो काव्य की रमणीयता, उसका गौरव कम हो जाता है। इसलिए मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में सर्वप्रथम दोष की चर्चा की है।

शरीर के संस्कार में भी पहले दोषामनयनरूप संस्कार करने के बाद ही गुणाधानरूप संस्कार किया जाता है तब जाकर अलंकार आदि का स्थान आता है। दोषापनयरूप तथा गुणाधान रूप संस्कार अपरिहार्य हैं। जबकि अलंकारादि गौण हैं। इस प्रकार थोड़े शब्दों में आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया।

काव्यलक्षण निरूपण के बाद काव्य के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य मम्मट ने 1. ध्वनिकाव्य (अतिशय व्यङ्ग्य) को उत्तम काव्य, 2. गुणीभूत व्यङ्ग्य को मध्यम तथा 3. शब्द तथा अर्थप्रधान अव्यङ्ग्य (अस्फुट व्यङ्ग्य) काव्य को अधम काव्य कहते हुए काव्य के तीन भेद प्रतिपादित किए हैं।

TESLA

2.6 काव्य भेद

प्राचीन काल से ही साहित्याचार्य काव्य के भेद-प्रभेदों पर विचार करते आ रहे हैं। प्रायः आचार्यों ने रचना शैली के आधार पर काव्य के भिन्न-भिन्न भेद स्वीकार किये हैं। प्रारम्भ में काव्य के गद्य तथा पद्य रूप भेद ही माने गये। किन्तु दण्डी तथा भामह जैसे आचार्यों ने भाषा के आधार पर भी काव्य के भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश काव्य सम्मिलित हैं। परवर्ती काल में महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, चम्पू, नाट्य आदि अनेक भेद तथा प्रभेद कहे गये। ध्वनिवादी आचार्यों ने यद्यपि काव्य भेदों पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है, पर आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्याभास कहते हुए काव्य के तीन प्रभेदों; ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्र काव्य का उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट ने उनका अनुसरण करते हुये इन्हीं प्रभेदों का उत्तम, मध्यम तथा अवर काव्य के रूप में निर्देश किया है।

2.6.1 उत्तम काव्य (ध्वनि काव्य)

सूत्र-2 इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

- का0प्र0 1/4

इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्गथव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्गयव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

यह (काव्य) वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशायित होने से उत्तम काव्य कहा जाता है और विद्धानों ने उसको ध्वनि (काव्य नाम से) कहा हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अत्यधिक उत्कर्ष को प्राप्त कर चमत्कार उत्पन्न करे वह 'उत्तम काव्य' है। काव्य का प्रधान प्रयोजन है **'सद्यः परनिर्वृति'**। सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना ही काव्य का मुख्य उद्देश्य होता है और इसकी उत्पत्ति रसानुभूति से होती है। जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ का उत्कर्ष होता है उसमें ही रसभाव भी अतिशायित होता है। इसी कारण यह काव्य उत्तम काव्य कहा जाता है।

उपर्युक्त उत्तम काव्य के लक्षण में प्रयुक्त ध्वनि पद को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि व्याकरण में प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति करने वाले वर्ण को ध्वनि कहा जाता हैं। उसी प्रकार उनके बाद अन्य अनुसरण करने वाले साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यङ्गयार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग प्रारंभ कर दिया। साहित्यशास्त्र में वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधानभूत किसी व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना करने वाले शब्दार्थ युगल को ध्वनि कहा जाता है। जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अतिशयित होकर चमत्कार उत्पन्न करता है वह काव्य ही उत्तम काव्य कहा जाता है। इसे ही ध्वनि काव्य भी कहा जाता है। यहाँ वाच्य अर्थ का तात्पर्य शब्द के स्वाभाविक अर्थ से है, जो अभिधा के माध्यम से स्वतः प्रकट होता है और व्यङ्ग्यार्थ वह है जो वाच्यार्थ से भिन्न छिपा हुआ अर्थ है। यह व्यञ्जना से अभिव्यक्त होता है। मम्मट व्यञ्जना प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं। यथा -

TESLA

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतट निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे

वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥2॥

अर्थात् झूठ बोलने वाली दूती मुझ प्रियजन की पीड़ा को न समझने वाली तू यहाँ से बावड़ी में स्नान हेतु गई थी न कि उस अधम के पास क्योंकि तेरे स्तनों के कोरों का चन्दन पूर्णतः छूट गया है, तेरे अधरों की लालिमा समाप्त हो गई है तथा नयनों का काजल पुंछ गया है और पतली काया अत्यन्त पुलकित है।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते ॥4॥

इस काव्य में विदग्धा नायिका अपनी दूती को ताड़ना दे रही है जिसने उसे धोखा देकर अनुचित कर्म किया है। यहाँ निषेधमूलक वाच्य अर्थ (बावड़ी में स्नान हेतु गई थी न कि उस अधम के पास) की अपेक्षा विधिमूलक व्यङ्ग्य अर्थ (उस अधम के पास ही गई थी) अत्यधिक अतिशायित होकर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। इसी कारण मम्मट ने इसे उत्तम काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्गयार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण उन्होंनें ध्वनि काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

2.6.2 मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यङ्गय काव्य)

सूत्र-3 अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

वैसा न होने पर अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशायित न होने पर मध्यम काव्य होता है। इसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि वह काव्य जहाँ व्यङ्ग्यार्थ हो, किन्तु वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण हो और वाच्य अर्थ स्वयं ही प्रधान होता हुआ चमत्कार उत्पन्न करता है वह मध्यम काव्य है।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि। यथा-

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥3॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।

अर्थात् वैसा न होने पर अर्थात् व्यङ्गयार्थ के वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी न होने पर गुणीभूत-व्यङ्गयार्थ होता है। जैसे –

हाथ में अशोक की नवमञ्जरी को लिये हुये ग्रामीण युवक को बारम्बार देखकर तरुणी की मुख-कान्ति मलिन हो गई।

प्रस्तुत उदाहरण में व्यङ्ग्य अर्थ (अभिसार के लिये न जा पाना) वाच्यार्थ (मुख-कान्ति का मलिन होना) के द्वारा ही विप्रलम्भ का पोषण कर रहा है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। यहाँ वाच्य अर्थ ही व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। यहाँ अतः व्यङ्ग्यार्थ के

TESLA

वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने से यह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण है। इसे ही मम्मट ने मध्यम काव्य कहा है।

2.6.3 अवर काव्य (चित्र काव्य)

काव्य के ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्गयरूप उत्तम और मध्यम भेदों के लक्षण एवं उदाहरण के बाद मम्मट ने काव्य के तीसरे भेद, चिकत्रकाव्य का लक्षण और उदाहरण दिया है।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्॥5॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्गयमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम् अधमम्।

व्यङ्ग्यार्थ से रहित शब्दचित्र तथा अर्थचित्र को ही अवर काव्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि गुण तथा अलङ्कार से युक्त प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ से रहित काव्य ही अवर कोटि का माना जाता है।

वस्तुतः मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ की तारतम्यता के आधार पर ही काव्य के तीन भेद कहे हैं। व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने से काव्य उत्तम कोटि का कहा जाता है। व्यङ्ग्यार्थ के गौण होने तथा वाच्यार्थ का उससे अधिक चमत्कारी होना मध्यम काव्य कहा जाता है। जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है वह अवर काव्य होता है। उपर्युक्त कारिका में 'अव्यङ्ग्य' शब्द का अर्थ यह नहीं है कि अवर काव्य में व्यङ्ग्यार्थ होता ही नहीं है अपितु यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ हो सकता है किन्तु वह अस्फुट ही रहता है और उसकी प्रतीति अस्फुटतर होती है अथवा नहीं होती है। ऐसा काव्य शब्दाडम्बर मात्र ही होता है। इसके दो भेद कहे गए हैं- शब्दचित्र तथा अर्थचित्र।

जहाँ शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो वह शब्दचित्र कहा जाता है अर्थात् शब्दालङ्कारों से परिपूर्ण काव्य शब्दचित्र है और जहाँ अर्थ-चमत्कार की प्रधानता हो वह अर्थचित्र कहा जाता है।

शब्दचित्र का उदाहरण -

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।।

अर्थात् स्वच्छन्द रूप से उछलते हुए निर्मल किनारों के गड्ढों में प्रबल वेग वाले जल की धारा से जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे महर्षि हर्ष के साथ जिस (गंगा के तट) पर स्नान तथा सन्ध्यादि कृत्य किया करते हैं, जिसकी कन्दरा में बड़े-बड़े मेंढक दिखलाई देते हैं तथा दीर्घ एवं समृद्ध वृक्षों के पतन से उठने वाली बड़ी-बड़ी तरंगों से पुष्ट हो गया है गर्व जिस (गंगा) का ऐसी गंगा तुम्हारे अज्ञान अथवा पाप को तुरन्त नष्ट करे।

उपर्युक्त पद्य शब्द-चित्र का उदाहरण है। यहाँ कोई व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त नहीं हो रहा अपितु कवि का अभिप्राय केवल अनुप्रास का चमत्कार दिखाने में है। यहाँ शब्दों के चमत्कार में व्यङ्ग्यार्थ तिरोहित हो गया है।

TESLA

अर्थचित्र का उदाहरण -

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

शत्रुओं का मान-मर्दन करने वाले जिस (दैत्यराज हयग्रीव) के अपने राजप्रासाद से यदृच्छया बाहर आने की सूचना सुनकर घबड़ाए हुए इन्द्र ने जिसकी अर्गला गिरा दी है ऐसी अमरावती ने मानो भय के कारण अपनी आँखें बन्द कर ली हैं।

यहाँ 'अमरावती ने मानो भय के कारण अपनी आँखें बन्द कर ली है'; इस उत्प्रेक्षा में ही कवि का अभिप्राय होने से वीररस की अभिव्यञ्जना नहीं हो पा रही है। अतः यह भी चित्रकाव्य का ही उदाहरण है।

प्रथम उल्लास में ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण, काव्य के प्रयोजन, काव्य के हेतु, काव्य का लक्षण तथा काव्य के भेदों का वर्णन किया है।

2.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **काव्यप्रकाश के मङ्गलाचरण में किसका स्मरण किया गया है?**

   क. शिव — ख. ब्रह्मा

   ग. कविभारती — घ. दुर्गा

2. **काव्यप्रकाश के मङ्गलाचरण में किस अलङ्कार का प्रयोग किया गया है?**

   क. व्यतिरेक — ख. उपमा

   ग. अर्थान्तरन्यास — घ. दीपक

3. **आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य किसे कहा गया है?**

   क. शब्द — ख. अर्थ

   ग. शब्द तथा अर्थ दोनों को — घ. शब्दः तथा अर्थ दोनो के अभाव को

4. **आचार्य मम्मट के अनुसार काव्यप्रयोजन कितने हैं?**

   क. 5 — ख. 4

   ग. 3 — घ. 2

2.8 लघुउत्तरीय प्रश्न

संक्षिप्त टिप्पणी लिखें –

क. काव्य प्रयोजन — ख. काव्य-हेतु

TESLA

इकाई-3

काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 शब्द के तीन भेद

3.3 अर्थ के तीन भेद

3.4 अर्थ के चतुर्थ भेद

3.4.1 अभिहितान्वयवाद

3.4.2 अन्विताभिधानवाद

3.5 अर्थों का व्यञ्जकत्व

3.6 वाचक शब्द का स्वरूप

3.7 अभिधानिरूपण

3.8 लक्षणा निरूपण

3.8.1 नागेशभट्ट का मत

3.8.2 शुद्धालक्षणा के भेद

3.8.3 सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा

3.8.4 गौणी लक्षणा के भेद

3.8.5 अभिधामूला व्यञ्जना

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् शिक्षार्थी –

- शिक्षार्थी शब्द के भेदों को जान पाएँगे।
- वाचक, लक्षक तथा व्यंजक नामक शब्द के भेदों को भलीभांति जान पाएँगे।
- इन तीनों प्रकार के शब्दों से प्रगट होने वाले त्रिविध अर्थ का ज्ञान कर सकेंगे।
- तीन प्रकार की शब्द-शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।
- तात्पर्याख्या शक्ति के विषय में ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।
- अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के विषय में ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।

TESLA

3.1 प्रस्तावना

मम्मटकृत् काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य प्रयोजन, हेतु, काव्य-लक्षण तथा काव्य-भेद आदि के बाद द्वितीय उल्लास की काटिकाओं की व्याख्या हम तृतीय इकाई में करेंगें। इस इकाई में हम शब्द और अर्थ के भेदों के विषय में अध्ययन करेंगें। वाचक शब्द का स्वरूप, अभिधा निरूपण के बाद लक्षणा-निरूपण के अन्तर्गत लक्षणा के भेदों का विस्तार से अध्ययन करेंगें। काव्यप्रकाश के **द्वितीय उल्लास** में ग्रन्थकार ने 1. वाचक, 2. लक्षक, तथा 3. व्यंजक के भेद से शब्द के तीन भेद प्रकाशित किए हैं तथा इन तीन प्रकार के शब्दों द्वारा प्रकट होने वाले 1.वाच्य, 2. लक्ष्य तथा 3. व्यङ्ग्य, इन त्रिविध अर्थों की व्यङ्ग्यार्थप्रतिपादिता का भी निरूपण किया है। इसी उल्लास में आचार्य मम्मट ने अपने शास्त्रीय ज्ञान को प्रदर्शित करने के लिए मीमांसक सोमेश्वर भट्ट द्वारा 'तन्त्रवार्तिक' की न्यायसुधा व्याख्या में उल्लिखित तात्पर्याख्यवृत्ति, अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद, इन दोनों वाक्यार्थावबोधक सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। त्रिविध अर्थों की व्यङ्गार्थप्रतिपादकता का निरूपण करते हुए आचार्य मम्मट ने तीनों प्रकार के शब्दों के साथ उनके तीनों प्रकार के अर्थों की भी स्पष्ट विवेचना की है। काव्यप्रकाश के इसी **द्वितीय उल्लास** में ग्रन्थकार ने शब्दार्थनिरूपण के प्रसङ्ग में वाचक, लक्षक तथा व्यंजक, इन प्रकार के अर्थों का निरूपण निरूपण किया है। लाक्षणिक शब्द के निरूपण के प्रसङ्ग में प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए व्यंजनावृत्ति के शाब्दी तथा आर्थी, इन भेदों का उल्लेख करते हुए प्रथम शाब्दी व्यंजना के अभिधामूला व्यंजना तथा लक्षणामूला व्यंजना, इन दोनों भेदों का भी इसी उल्लास में ग्रन्थकार ने विस्तृत निरूपण किया है।

प्रथम उल्लास में आचार्य मम्मट ने दोष रहित, गुण सहित सर्वत्र अलंकार सहित लेकिन कहीं कहीं अलंकार की स्पष्ट प्रतीति न होने पर भी शब्दार्थ युगल को काव्य कहा था। अतएव प्रसंग प्राप्त शब्द और अर्थ के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है।

3.2 शब्द के तीन भेद

सूत्र-4 स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा। अत्रेति काव्ये। एषां स्वरूपं वक्ष्यते।

कारिका में आया 'अत्र' पद से काव्य का ग्रहण होता है। काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं- वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में वाचक और लक्षक दो ही प्रकार के शब्द होते हैं। परन्तु साहित्यशास्त्र में व्यञ्जक शब्द भी होते है। इसलिए 'अत्र' शब्द का प्रयोग 'काव्य में' – इस अर्थ में किया गया है। व्यञ्जक शब्द के बिना काव्य में कोई भी चमत्कार नहीं उत्पन्न होता है। वाचक शब्द से मुख्यार्थ का बोध होता है। अतः वह सर्वप्रथम आता है। उसके बाद लाक्षणिक शब्द आता है। अंत में इन दोनों पर आश्रित व्यञ्जक शब्द आता है। ये तीनों विभाग शब्दों के नहीं होते वरन् मात्र उनकी उपाधियों के होते हैं। एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है, लक्षक भी और व्यञ्जक भी। इसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते है –

TESLA

3.3 अर्थ के तीन भेद

सूत्र-5 वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः। वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः

कारिका में प्रयुक्त 'आदि' पद से लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का ग्रहण होता है। 'तत्' पद वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक का ग्राहक है। इस प्रकार कारिका का अर्थ होता है- वाच्य, लक्ष्य और व्ङ्गय क्रमशः वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के अर्थ होते हैं। किन्हीं-किन्हीं के मत में अर्थ चार प्रकार का भी होता है। इसका प्रतिपादन करते हुए मम्मट लिखते हैं –

3.4 अर्थ का चतुर्थ भेद

सूत्र-6 ''तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।'' ॥6॥

केषुचित् पद से यहाँ पार्थसारथी मिश्र आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसको का ग्रहण होता है। फलतः कारिका का अर्थ होता है पार्थसारथी मिश्र आदि मीमांसकों के मत में वाच्याद् अर्थों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ भी होता है। यहाँ कारिका में मीमांसकों के सिद्धान्तों को प्रदर्शित करने के लिए 'तार्त्यार्थोऽपि केषुचित्' यह पंक्ति विशेष रूप से लिखी है।

मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते है, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मत मुख्य हैं। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' को मानने वाले हैं। इसके विपरीत प्रभाकर गुरु और उनके अनुयायी 'अन्विताभिधानवाद' को मानने वाले हैं।

3.4.1 अभिहितान्वयवाद

वाक्य के अर्थ बोध के लिए कहे गए अर्थात अभिहित पदों का अन्वय द्वारा अर्थ निकालने पर 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त होता है। पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ-मर्यादा से उपस्थित होता है। इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है इसलिए उसको तात्पर्यार्थ कहते हैं और यही वाक्यार्थ कहलाता है। इस तात्पयार्थ की बोधक शक्ति तात्पर्याख्या शक्ति है। मीमांसक व्यञ्जना शक्ति को नहीं मानते हैं, इसलिए तात्पर्याख्या शक्ति को चौथी शब्द शक्ति नहीं स्वीकार करते, बल्कि तीसरी शक्ति ही मानते है।

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये

तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

आचार्य मम्मट ने अभिहितान्वयवादी मीमांसक कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त को इस प्रकार बताया है कि ऐसे पदों द्वारा अभिहित अर्थात् कहे गए पदों के अर्थों का आकांक्षा, योग्यता एवं

TESLA

सन्निधि के बल से परस्पर पदों से उत्पन्न होने वाला अर्थ न होने पर भी विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीति होता है। यह ही अभिहितान्वयवादियों का सिद्धान्त है।

आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त जो पद होते हैं, वही वाक्य कहलाते हैं और उनसे ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त में पहले पदों से केवल अन्वित पदार्थ उपस्थिति होते है। उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से तात्पर्य शक्ति द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। आकांक्षा वस्तुतः श्रोता की जिज्ञासा रूप है, एक पद को सुनने के बाद दूसरे पद को सुनने की इच्छा का नाम आकांक्षा है। पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाध का अभावयोग्यता है। परस्पर पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होने पर उस पद-समुदाय को वाक्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए उससे वाक्यार्थ भी निकलना संभव नहीं है। सन्निधि का अर्थ है एक ही पुरुष द्वारा अविलम्ब पदों का उच्चारण करना। वाक्यार्थ के पदों में उच्चारण में निरन्तरता आवश्यक है अन्यथा वाक्यांश की प्रतीति संभव नहीं है।

3.4.2 अन्विताभिधानवाद

मीमांसकों का दूसरा 'सिद्धान्त 'अन्विताभिद्यानवाद' है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि हैं।

वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः'।

इस सिद्धान्त को मानने वाले मीमांसकों का मानना है कि पदों द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है, इसलिए पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। तात्पर्याख्या शक्ति से बाद में प्रतीति नहीं होती है।

उनके मतानुसार पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है। पूर्व से ही अन्वय होने के कारण तात्पर्याशक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। प्रभाकर ने अर्थबोध के लिए 'संकेत ग्रह' को स्वीकार किया है। उनका मानना है कि संकेत-ग्रह केवल पदार्थ में नहीं बल्कि किसी के साथ अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसलिए अन्वित का ही अभिद्या शक्ति से बोध होने के कारण उनका सिद्धान्त 'अन्विताभिद्यानवाद' है।

3.5 अर्थों का व्यञ्जकत्व

शब्द शक्तियों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों को बताने के बाद मम्मट ने तीनों प्रकार के अर्थों में रहने वाले व्यञ्जकत्व को बताया है। वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकते हैं।

सूत्र-7 सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते

प्रायः सभी अर्थों की व्यञ्जकता भी मानी जाती है। वाच्यार्थ की व्यञ्जता का उदाहरण निम्नलिखित है -

TESLA

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्पित्ति साहिअं तुमए।

ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ॥

(मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।

तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥)

हे माता! आज घर की सामग्री नहीं है यह तुमने बतला दिया है तो अब यह बताओ कि क्या करना चाहिए क्योंकि दिन ऐसे ही नहीं बना रहेगा।

यहाँ कहने वाली वधू स्वयं विहार के लिए जाना चाहती है, यह व्यंग्य है। इसी प्रकार लक्ष्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण देते हैं -

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए॥

(साधयन्ती सखिसुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।

सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया॥)

हे सखि! उस सुन्दर के पास बार-बार जाकर तुमने बड़ा कष्ट उठाया अपने सद्भाव और स्नेह के सदृश जो तुमको करना चाहिए था, वह तुमने कर लिया।

यहाँ मेरे प्रियतम के साथ रमण करके तुमने मेरे साथ शत्रुता की है यह लक्ष्यार्थ है और उससे कामुक विषयक अपराध का प्रकाशन व्यंग्य है।

इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण निम्नलिखित है -

उण णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।

णिम्मलमरगअभाअण परिट्ठिआ संखसुत्ति व्व॥

(पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव॥)

देखो, कमल के पत्ते पर निश्चल और निष्पन्द वलाका निर्मल मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शंख शुक्ति की तरह प्रतीत होती है।

यहाँ वलाका के निश्चल होने से उसकी निर्मलता और उससे उस स्थान का जनरहित होना व्यङ्ग्यार्थ है। अतः यह संकेत स्थान है यह बात व्यभिजत होती है अथवा कोई नायिका नायक से कह रही है कि तुम झूठ बोल रहे हो तुम यहां नहीं आये अन्यथा ये वलाका इस प्रकार निश्चल और निष्पन्द नहीं रह सकती थी।

3.6 वाचक शब्द का स्वरूप

तीनों प्रकार के अर्थों की व्यंजकता का प्रतिपादन करके सर्वप्रथम वाचक का स्वरूप बतलाते है -

TESLA

सूत्र-8 साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः॥7॥

इहागृहीत सङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेष प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

साक्षात् संकेतित अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द वाचक कहलाता है। इस प्रकार वाचक शब्द अपने संकेतित अर्थ को ही कहता है। लोकव्यवहार में संकेत गृह के द्वारा ही शब्द अर्थविशेष का प्रतिपादन करता है। इसलिए जो शब्द व्यवधान रहित संकेत गृह जिस अर्थ को बताता है उस अर्थ का वाचक होता है। संकेतग्रह का प्रधान साधन लोकव्यवहार है। इस प्रक्रिया को 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया भी कहते हैं। इस प्रक्रिया में एक शब्द को हटाकर जो दूसरे शब्द का इसी प्रकार का एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का निवेश होता है, इसी को आवाप-उद्वाप कहते है। व्याकरण, उपमान, कोश, आप्रवाक्य, वाक्यकोष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध ज्ञात पद की सन्निधि से भी शक्ति या संकेत ग्रहण होता है।

संकेतग्रह के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि शक्तिग्रह 'जाति' में होता है या 'व्यक्ति' में अथवा 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' में। साधारण रूप में व्यवहार व्यक्ति में ही होने के कारण संकेतग्रह भी व्यक्ति में ही होना चाहिए, परन्तु व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोषों की सम्भावना रहती है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग संकेतग्रह मानना होगा और इसके लिए अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। यही आनन्त्य दोष का अर्थ है।

आनन्त्य दोष से बचने के लिए यदि कुछ ही व्यक्तियों में संकेत ग्रह माना जाए और शेष का बोध बिना संकेतग्रह के ही स्वीकार कर लिया जाए तो 'व्यभिचार-दोष होगा। संकेत की सहायता से शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है। इस नियम का उल्लंघन ही व्यभिचार दोष है। इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह मानना संभव नहीं है। उस संकेतित अर्थ के भेद के विषय में भी मतभेद है। इसका प्रतिपादन करते हुये मम्मट लिखते हैं।

सूत्र-9 सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा॥

कारिका में आदि पद से गुण, क्रिया यदृच्छा ग्रहण होता है। फलतः कारिका का अर्थ होता है संकेतित अर्थ जाति, गुण क्रिया, यदृच्छा के भेद से चार प्रकार का होता है अथवा केवल जाति ही होता है। यहाँ वैयाकरणों तथा मीमांसकों के संकेतित अर्थ के भेद विषयक मतों का प्रतिपादन किया गया है। महाभाष्यकार ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' लिखकर जातिशब्द गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा शब्द रूप से शब्दों के चार विभाग किये हैं। उनके अनुसार शक्ति व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण क्रिया और यदृच्छारूप धर्मों में ही संकेतग्रह मानना उचित है। क्रम प्राप्त अभिधा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये मम्मट लिखते है –

3.7 अभिधानिरूपण

सूत्र-10 स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥8॥

स इति साक्षात् सङ्केतितः। अस्येति शब्दस्य।

TESLA

वह साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्यार्थ कहलाता है तथा उसका बोध कराने वाला व्यापार अभिधा शब्द के द्वारा कहा जाता है। कारिका में प्रयुक्त 'सः' पद से साक्षात् संकेतित का अर्थ लिया जाता है तथा 'अस्य' पद से शब्द का अर्थ लिया जाता है। वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीनों अर्थों में वाच्य अर्थ सबसे प्रधान होता है तथा सबसे पहले उपस्थित होता है इसलिए उसे मुख्यार्थ (मुख्य अर्थ) कहा जाता है। इस मुख्य अर्थ को बोध कराने वाली शब्द की पहली शक्ति अभिघा शक्ति या अभिघा व्यापार है।

3.8 लक्षणा निरूपण

सूत्र-11 मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥9॥

'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात्, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात्, मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादानात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

अभिधा का स्वरूप बताने के उपरान्त मम्मट शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा का लक्षण करते हुए कहते हैं- मुख्यार्थ के बाध होने पर अर्थात् व्यवधान उत्पन्न होने पर, मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढ़ि अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए जिससे अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वही लक्षणा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्षणा के तीन हेतु हैं। 1) मुख्यार्थबाध, 2) मुख्यार्थ और अन्यार्थ का सम्बन्ध तथा 3) रूढि अथवा प्रयोजन। इन तीन कारणों द्वारा जिस शब्द शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है वह मुख्य रूप से अर्थ में रहने के कारण शब्द का आरोपित व्यापार होता है और वही व्यापार लक्षणा कहलाता है।

रूढि लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः है तथा प्रयोजवती लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' है।

'कर्मणि कुशलः' इस उदाहरण में 'कुशल' का अर्थ कुश लाने वाला नहीं अपितु काम में कुशल है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। 'गङ्गायां घोषः' में जल प्रवाह (रूप मुख्यार्थ) में आभीर-पल्ली का आधार संभव नहीं है अतः मुख्यार्थ का बाध होकर (शैत्य, पावनता आदि से) सामीप्य संबंध से अर्थ निकलता है – तट। पहले उदाहरण में कुशल पद के दक्ष रूप अर्थ में रूढ़ होने के कारण रूढ़ि से अर्थात् प्रसिद्धि से और दूसरे उदारहण में शीतलता, पावनता आदि के प्रतिपादन हेतु प्रयोजन से मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ निकलता है वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है।

3.8.1 नागेशभट्ट का मत

नागेशभट्ट ने लक्षणा के मूल में 'अन्वयानुपपत्ति' के साथ पर 'तात्पर्यानुपपत्ति' को स्वीकार किया है। उनके अनुसार लक्षणा के बीज रूप में अन्वयानुपपत्ति को मानने पर 'काकेभ्यों

TESLA

दघि रक्ष्यातम्' में लक्षणा नहीं हो सकेगी। 'जरा कौओं से दही बचाना' इसका अभिप्राय केवल कौओं से दही की रक्षा करना नही वरन् कौए, बिल्ली, कुत्ते आदि सभी दही को बिगाड़ने या खाने वाले का अभिप्राय लिया जाएगा। यह अभिप्राय 'काक' पद की 'दघ्युपघात्क' अर्थ में लक्षणा करने से पूरा होगा। परन्तु 'काकेभ्यो दघि रक्ष्यातम्' में अन्वयानुपपत्ति न होकर सभी पदों में अन्वय से एक अर्थ प्राप्त हो रहा है। इसलिए मुख्यार्थ का बाघ न हो पाने की दशा में यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती। इसलिए नागेशभट्ट ने लक्षणा के बीज के रूप में अन्वयानुपपत्ति के स्थान पर 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज माना है। अन्वय में बाधा न होने पर भी 'काक' पर का मुख्यार्थ मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिए लक्षणा करना आवश्यक हो जाता है।

3.8.2 शुद्धा लक्षणा के भेद

लक्षणा उपादान तथा लक्षण के भेद से दो प्रकार की होती है। इन दोनों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य मम्मट लिखते है -

सूत्र-12 स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥10॥

शुद्धा लक्षणा के दो भेद होते है, उपादान तथा लक्षण लक्षणा अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अन्य अर्थ का आक्षेप करना उपादान लक्षणा तथा दूसरे के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्य अर्थ का परित्याग लक्षण लक्षणा कहलाती है। ये दोनों भेद गौणी लक्षणा के नहीं होते है। ''कुन्ताः प्रविशन्ति'' उपादान लक्षणा का उदाहरण है। क्योंकि कुन्त पद के द्वारा अपने प्रवेश क्रिया की सिद्धि के लिए स्वसंयुक्त पुरुषों का आक्षेप होता है। ''गंगायां घोषः'' लक्षण लक्षणा का उदाहरण है। क्योंकि गंगा पद घोष की अधिकरणता की सिद्धि के लिए अपने जलप्रवाह रूप मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है। ये दोनों प्रकार की लक्षण उपचार से मिश्रित न होने सोरोपा और साध्यवसाना लक्षणा के कारण शुद्धा है।

3.8.3 सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के भेद

शुद्धा के उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा इन दोनों भेदों के स्वरूप का प्रतिपादन करने के अनन्तर ग्रन्थकार शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणा के सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से दो प्रकार प्रतिपादित किये है। सारोपा लक्षणा का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए मम्मट लिखते है।

सूत्र-13 सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते, सा लक्षणा सारोपा।

जहाँ आरोप्यमाण तथा आरोप का विषय दोनों उक्त होते है वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जैसे ''गौर्वाहीकः'' में आरोप्यमाण गौ तथा आरोप का विषय वाहीक शब्दतः कथित हैं। जहाँ उपमान और उपमेय शब्दतः सामानाधिकरण से कहे जाते है वह सारोपा लक्षणा होती है।

साध्यवसाना लक्षणा का लक्षण प्रतिपादन करते हुये आचार्य मम्मट लिखते है।

TESLA

सूत्र-14 विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका। ॥11॥

विषयिणारोप्यमाणेनान्तः कृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

जहाँ आरोप्यमाण के द्वारा आरोप विषय निर्गीण हो जाए, उसे साध्यवसाना लक्षणा कहा जाता है। उपमान (विषयी) द्वारा, उपमेय का अपने अंदर अन्तर्भाव कर लिये जाने पर वह साध्यतुवसानिका लक्षणा हो जाती है।

सारोपा और साध्यवसाना के उपर्युक्त दोनों भेद सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से क्रमशः गौणी तथा शुद्धा लक्षणा के भेद समझने चाहिए -

सूत्र-15 भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ।

3.8.4 गौणी लक्षणा के भेद

जहां सादृश्य सम्बन्ध होता वहां गौणी तथा सादृश्येतर सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा होती है।

ये दोनो भेद सारोपा तथा साध्यवसाना में होता है।

इमौ आरोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च।

उपमान और उपमेय दोनों शब्दतः कथित होने के कारण 'गौर्वाहीकः' गौणी सारोपा लक्षणा का उदाहरण है। उसी प्रकार उपमान द्वारा उपमेय का अपने भीतर अन्तर्भाव कर लेने के कारण 'गौरयम्'' गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है। 'गौरयम्' में आरोप विषय वाहीक का शब्दतः कथन नहीं है। वह आरोप्यमाण गौ द्वारा निगीर्ण हो गया है। सादृश्यमूलक होने के कारण दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण है।

शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण –

गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षण के उदाहरण देने के आचार्य शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना के उदाहरण देते हैं।

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम्।

एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

गौणी के सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा दोनों उदाहरण के बाद आचार्य ने शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना का लक्षण दिया है। 'घी आयु है' अथवा 'यह (घी) आयु ही है आदि सारोपा शुद्धा लक्षणा के उदाहरण हैं।

'गौर्वाहीकः' तथा 'गौरयम्' गौणी लक्षणा के उदाहरण है। 'आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' शुद्धा लक्षणा के उदाहरण हैं क्योंकि आयु और धृत में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है।

सूत्र-16 लक्षणा तेन षड्विधा॥12॥

आद्यभेदाभ्यां सह।

TESLA

लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा रूप दोनों भेदों के साथ शुद्धा तथा गौणी दोनों में से प्रत्येक के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप दो दो भेदों को मिलाकर लक्षणा **व्ङ्ग्येन रहिता रूढ़ौ सहिता तु प्रयोजने** के छः भेद होते हैं।

सूत्र-17 व्यङ्गचेन रहिता रुठौ सहिता तु प्रयोजने।

प्रयोजनं हि व्यञ्जन व्यापारगमम्यमेव

रूढि लक्षणा व्यंग्य से रहित तथा प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य सहित होती है। प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्गय प्रयोजन अवश्य रहता है। अतः वह व्यङ्गय सहित होती है। पुनः व्यंग्य के भेद बतलाते हुए मम्मट लिखते है -

सूत्र-18 तच्च गूढमगूढं वा।

तच्चेति व्यङ्ग्यम्।

इस कारिका में प्रयुक्त तत् पद व्यङ्ग्य का कारक है। इस प्रकार कारिका का अर्थ होता है व्यंग्य प्रयोजन कहीं गूढ़ अथवा कहीं अगूढ़ होता है। सहृदय मात्र-गम्य व्यंग्य गूढ़ व्यंग्य कहलाता है और स्पष्ट व सर्वजनसंवेद्य व्यङ्ग्य अगूढ होता है। गूठ व्यङ्गलग का उदाहरण -

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं।

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।

उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं।

बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते।।

मुखपर मुस्कराहट खिल रही है। बांकपन दृष्टि का दास हो रहा है, चलने में हाव भाव छलक रहे है। बुद्धि मर्यादा का अतिक्रकमण कर रही है। छाती पर स्तनों की कलियाँ निकल रही है। जांघे अवयवों के बन्ध से उभर रही है बड़ी प्रसन्नता की बात है। कि उस चन्द्रवदनी के शरीर में यौवन का उभार विलोल कर रहा है।

यहाँ मुख का सौरभ आदि व्यंग्य अर्थ केवल सहृदयों को ही प्रतीत होता है। श्लोक में जो व्यङ्गय अर्थ है, वह सर्वजनसंवेद्य नहीं है, इसलिए गूढ़ व्यङ्गय है। अगूढ व्यंग्य का उदाहरण निम्नलिखित है -

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।।

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं, यौवन का मद ही कामिनियों को ललितों का उपदेश कर देता है। यहां रति चेष्टाओं का आविष्करण रूप व्यंग्य सर्वजनसंवेद्म है। इसलिए यहाँ अगूठव्यङ्गय है।

अब व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा का भेद करते हुए मम्मट लिखते है।

TESLA

सूत्र-19 तदेषा कथिता त्रिधा।

अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च।

व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा तीन प्रकार की होती हैं - अव्यंग्या, गूढव्यंग्या और अगूढव्यंग्या। इस उल्लास के आरंभ में आए 'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दों इस व्यञ्जकस्त्रि' आदि सूत्र में वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक तीन प्रकार के का निर्देश किया गया था। वाचक शब्द का प्रतिपादन तथा लक्षणा विवेचन के बाद अब लाक्षणिक शब्द का स्वरूप बताते हुए मम्मट लिखते है।

सूत्र-20 तद्भूर्ल क्षणिकः।

'शब्दः' इति सम्बध्यते। तद्भूस्तदाश्रयः।

यहां प्रयुक्त तत् पद से लक्षणा का ग्रहण होता है। इस प्रकार कारिका का अर्थ हुआ लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक कहलाता है।

सूत्र-21 तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।

उस व्यंग्यरूप प्रयोजन के विषय में व्यञ्जनात्मक व्यापार होता है। मुकुलभट्ट अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'अभिघावृत्तिमातृका' की दशम कारिका में रूढि तथा प्रयोजन को लक्षणा का प्रयोजक हेतु माना है। ध्वनिवादी आचार्य प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना से मानते हैं। परन्तु मुकुलभट्ट उस व्यञ्जना को स्वीकार नहीं करते। वे प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा शक्ति से ही मानते हैं। व्यञ्जना का पक्ष रखते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं -

सूत्र-22 यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥4॥

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः।

जिस प्रयोजन विशेष की प्रतीति के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। केवल शब्द से गम्य उस प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त शब्द का और कोई व्यापार नहीं हो सकता है। मुकुलभट्ट जब प्रयोजन को लक्षणा का प्रयोजक मानते है तो प्रयोजन प्रतिपादन में अभिधा या लक्षणा से हो ही नहीं सकती उसकी माननी चाहिए। आगे लिखते हैं - प्रतीति के लिए व्यञ्जना अवश्य

सूत्र-23 नाभिधा समयाभावात्।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दः संङ्केतिताः।

अभिधा संकेतग्रह न होने से प्रयोजन की प्रतीति नहीं करा सकती, क्योंकि अभिधा संकेतित अर्थ को ही कहती है। ''गंगायां घोषः'' इत्यादि में जो पावनत्व आदि व्यंग्य है वह गंगा पद का शब्दार्थ नहीं है। अतः गङ्गा के पावनत्व का ज्ञान अभिधा से नहीं हो सकता है।

TESLA

प्रयोजन प्रतिपादन में लक्षणा की असमर्थता बतलाते हुए लिखते हैं -

सूत्र-24　　　　हेत्वभावान्न लक्षणा।

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

लक्षणा के तीन हेतु हैं- मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन इन तीनों हेतुओं के अभाव में प्रयोजन का प्रतिपादन लक्षणा का व्यापार नहीं माना जा सकता।

सूत्र-25　　　लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।।6।।

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः। नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

''गंगायां घोषः'' में तट रूप लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ नहीं है और न ही उसका बाध होता है और न उसका शैत्य पावनत्वादि फल के साथ सम्बन्ध है और न इस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में कोई प्रयोजन है, और न प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक शब्द स्खलद्गति है।

प्रयोजन को लक्षित मानने में दोष दिखलाते हुए लिखते हैं -

सूत्र-26　　　एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

एवं प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण, तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृत् अनवस्था भवेत्।।

यदि प्रयोजन को लक्षित माना जाए तो अनवस्था दोष होगा जो मूल का ही क्षय करने वाला होता है। इस प्रकार प्रयोजन की अविश्रान्त परम्परा की कल्पना के कारण अर्थ प्रतीति में भी बाधा डालने वाली अनवस्था होगी।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते। 'गङ्गायास्तटे घोषः' इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा। तत्किं व्यञ्जनयेत्याह -

विशिष्ट लक्षणा का खण्डन करते हुए लिखते हैं -

सूत्र-27　　　प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।।17।।

प्रयोजन के सहित लक्ष्यार्थ को मानना उचित नहीं है अर्थात् शैत्यपावनत्वादि विशिष्ट तीर को लक्ष्यार्थ मानना अनुचित है।

सूत्र-28　　　ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्। प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा।

ज्ञान का विषय तथा ज्ञान का फल भिन्न होता है। विषय ज्ञान का कारण होता है तथा फल ज्ञान का कारण होता है। अतः ज्ञान से पहले विषय आता है, ज्ञान के बाद फल की उत्पत्ति होती है। इसलिए लक्षणा जन्म ज्ञान के विषय 'तटादि' और उसके फल पुण्यत्व, मनोहरत्व

TESLA

आदि शैत्य-पावनत्वादि की स्थिति भी अलग-अलग है। उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण प्रयोजन के सहित तट आदि को लक्ष्यार्थ मानना युक्ति सङ्गत नहीं है।

सूत्र-29 विशिष्टे लक्षणा नैवं व्याख्यातम्।

इस प्रकार विशिष्ट में लक्षणा नहीं मानी जा सकती।

सूत्र-30 विशेषाः स्युस्तु लक्षिते।

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्।

लक्षित अर्थ में विशेष हो सकते हैं, अर्थात् लक्षणा से तट की उपस्थिति होने के पश्चात् लक्षणामूला व्यंजना से उस तटादि रूप लक्ष्यार्थ में शैत्यापावनत्त्वादि प्रयोजनों की प्रतीति हो सकती है।

तट आदि में जो पावनत्क आदि विशेष (प्रयोजन श्रर्म) हैं वे अभिधा, तात्पर्या लक्षण से भिन्न व्यापार से गम्य है और व्यञ्जना, ध्वनन, द्यौतन आदि शब्दों से वाच्य वह (व्यञ्जना व्यापार) अवश्य मानना चाहिए, उसके बिना प्रयोजन आदि का बोध नहीं हो सकता है।

लक्षणामूला व्यञ्जना को बतलाकर अभिधामूला व्यञ्जना का स्वरूप बतलाते हैं -

3.8.5 अभिघामूला व्यञ्जना

सूत्र-31 अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥19॥

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यंजना है। इस व्यंजना को अभिधामूला व्यंजना कहते हैं। जैसे -

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।

यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥21॥

सुन्दर रूप वाले दूसरों से अनभिभवनीय शरीर से युक्त, उच्च कुल में उत्पन्न, जिसने बाणों का संग्रह कर रखा है। जिसकी गति (अथवा ज्ञान अनुपप्लुत अर्थात्) अबाधित है और जो शत्रुओं का करने वाला है, उस राजा का हाथ सदा दान के जल से सुन्दर रहता था।

इस प्रकार राजा परक अर्थ हो जाने पर हाथी परक दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है। भद्र जाति वाले, जिसके ऊपर चढ़ने में कठिनाई होती है। बहुत विशाल और उन्नत हैं जिसकी गति धीरे है और जिसने भ्रमरों का संग्रह कर रखा हैं इस प्रकार के उत्तम हाथी की सूंड के राजा का हाथ मद जल के बहने से सदा सुन्दर मालूम होती है।

उपर्युक्त श्लोक में किसी राजा की स्तुति की जा रही हैं अतः श्लोक में जितने भी अनेकार्थक शब्द आए है उन सबका प्रकरण से एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। फिर भी

TESLA

उसमें हाथी परक दूसरे अर्थ और उसके साथ उपमानों उपमेय भाव को भी प्रतीति होती है, वह दूसरी प्रतीति अभिधामूला व्यंजना से ही होती है।

व्यंजकशब्द का स्वरूप बतलाते हुए लिखते है -

सूत्र-32 तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः।

व्यंजना व्यापार का आश्रयभूत शब्द व्यंजक कहलाता है। शब्द की व्यंजकता में अर्थ की सहकारिता का प्रतिपादन करते हुए मम्मट लिखते है -

सूत्र-33 यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मताः।।

व्यञ्जक शब्द अपने मुख्यार्थ को बोध कराने के बाद दूसरे अर्थ का व्यंजक होता है। इसलिए उसके साथ सहकारी रूप से अर्थ भी व्यंजक होता है।

इति द्वितीय उल्लास

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **लक्षणा के कितने भेद हैं?**

   क. 6 ख. 4

   ग. 3 घ. 2

2. **काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में व्यंजना के किस भेद का प्रतिपादन किया गया है?**

   क. आर्थीव्यंजना ख. शाब्दी व्यंजना

   ग. आर्थीव्यंजना तथा शाब्दी व्यंजना दोनो का घ. किसी का भी नहीं

TESLA

इकाई-4

काव्यप्रकाश-तृतीय उल्लास (कारिकाओं की व्याख्या)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अर्थ के भेद

4.3 आर्थी व्यञ्जना के भेद एवं उदाहरण

- 4.3.1 वक्ता के वैशिष्ट्य से
- 4.3.2 बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से
- 4.3.3 काकु के वैशिष्ट्य से
- 4.3.4 वाक्य के वैशिष्ट्य से
- 4.3.5 वाच्य के वैशिष्ट्य से
- 4.3.6 अन्यसन्निधि के वैशिष्ट्य से
- 4.3.7 प्रस्ताव के वैशिष्ट्य से
- 4.3.8 देश के वैशिष्ट्य से
- 4.3.9 काल के वैशिष्ट्य से
- 4.3.10 चेष्टा के वैशिष्ट्य से

4.4 लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता

4.5 आर्थी व्यञ्जना में शब्द-सहयोग

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् शिक्षार्थी –

- अर्थ के भेदों को जान पाएँगे।
- आर्थी व्यञ्जना के भेदों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आर्थी व्यञ्जना के सभी दस भेदों को उदाहरण द्वारा समझ सकेंगे।
- लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता को जा न पाएँगे।
- आर्थी व्यञ्जना में व्यञ्जकता के प्रति शब्द के सहयोग को समझ सकेंगे।

TESLA

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में काव्यप्रकाश के अर्थ-व्यञ्जकता-निर्णय नामक तृतीय उल्लास का अध्ययन करना है। इस इकाई में आर्थी व्यञ्जजना तथा उसके भेदों का अध्ययन किया जाना है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना के 1. वक्ता, 2. बोद्धा, 3. काकु, 4. वाक्य, 5. वाच्य, 6. अन्य सन्निधि, 7. प्रस्ताव, 8. देश, 9. काल तथा 10. आदि पद से ग्राह्य चेष्टा के रूप में दस भेदों का विशद प्रतिपादन किया है।

4.2 अर्थ के भेद

सूत्र-34 अर्थाः प्रोक्ताःपुरा तेषाम् ।

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्गयाः तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्।

व्याख्या- **पुरा-** द्वितीय उल्लास में; **तेषाम् -** वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक रूप तीन प्रकार के शब्दों का; **अर्थाः** – वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य इन तीन अर्थों का निरुपण किया जा चुका है। इसी प्रकार शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थी व्यञ्जना के भेद से उक्त व्यञ्जना वृत्ति का भी द्वितीय उल्लास में प्रतिपादन किया जा चुका है। व्यञ्जनावृत्ति के इन दोनों भेदों में शाब्दी व्यञ्जना के भी अभिधामूला व्यञ्जना तथा लक्षणामूला व्यञ्जना ये दो भेद निरुपित कर इसके दोनो भेदों का भी द्वितीय उल्लास में विशद विवेचन किया जा चुका है। प्रस्तुत तृतीय उल्लास में पूर्वोक्त विषयों का स्मरण दिलाकर आचार्य मम्मट द्वितीय उल्लास में निरुपित 1. वाच्य 2. लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य रूप तीनों शब्दों के जो वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य रूप त्रिविध अर्थ बताए गए हैं उनकी अर्थ व्यञ्जकता अर्थात् उन अर्थों पर आश्रित आर्थी व्यञ्जना का प्रतिपादन करते हुए 36 वें सूत्र को उपस्थित करते हैं।

सूत्र-35 अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

उन अर्थों द्वारा होने वाली आर्थी व्यञ्जना का अब निरूपण कर रहे हैं। 'कीदृशीत्याह' वह आर्थी व्यञ्जना कैसी होती है, उसका निरूपण अग्रिम सूत्र से करते हैं -

4.3 आर्थी व्यञ्जना के भेद

सूत्र-36 वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः॥21॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।

योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥22॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः।

1. वक्ता, 2. बोद्धा (बोद्धव्य), 3. काकु, 4. वाक्य, 5. वाच्य, 6. अन्यसन्निधि, 7. प्रस्ताव, 8. देश,9. काल, 10. अन्यविध आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभाशाली सहृदयों को अर्थान्तर

TESLA

(अन्य अर्थ) की प्रतीति कराने वाले अर्थ के व्यापार को आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। इसके दसों प्रकारों को ग्रन्थकार ने उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया है। 'बोद्धव्य' का अर्थ प्रतिपाद्य अर्थात् जिससे बात कही जाए वह-है। 'काकू' ध्वनि के विकार को कहते हैं। 'प्रस्ताव' का अर्थ प्रकरण है। 'अर्थ' का मतलब वाक्य, लक्ष्य, व्यङ्गय रूप अर्थ का व्यापार आर्थी व्यञ्जना कहलाता है।

4.3.1 वक्ता के वैशिष्ट्य से (वक्तृवैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जना का उदाहरण)

मूलप्राकृत : **अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।**

समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥

सं0छा0: **अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।**

श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्।।

हे सखि! मैं पानी के बड़े-बड़े घड़े को लेकर बड़ी तेजी से चली आ रही हूँ। परिश्रम के कारण निःश्वास तथा पसीने से परेशान हो गई हूँ। इसलिए थोड़ी देर यहाँ विश्राम करूँगी।

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि '**अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते**' इस पद्य में वक्ता की उक्ति के वैशिष्ट्य के कारण चौर्यरत (गुप्त संभोग) छिपाए जाने की (सहृदय को) प्रतीति हो जाती है।

यहाँ पर अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरने के बहाने उपनायक से सम्भोग करके आ रही है तथा सखि उसके चौर्यरत के सन्दर्भ में शंका न करे; इसलिए स्वयं ही पसीना, साँस फूलने आदि कष्टों के लिए पानी से भरे घड़े को लाने के श्रम की बात कह रही है। इस प्रकार वह अपने चौर्यरत को छिपाने का प्रयास कर रही है। यह व्यंग्य अर्थ सहृदय श्रोता को वक्ता की उक्ति के वैशिष्ट्य से प्रतीत हो जाता है। यहाँ यदि हम श्लोक के शब्दों को बदल दें तो भी शब्दार्थवृत्ति सहत्व है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिए यह अर्थ का ही व्यापार होने के कारण आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है।

4.3.2 बोधव्य (बोद्धा) के वैशिष्ट्य से (व्यञ्जना का उदाहरण)

ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने 'बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः' कहते हुए बोद्धव्य का अर्थ प्रतिपाद्य अर्थात् जिससे बात कही जाए वह किया है।

मूलप्राकृत : **ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।**

मह मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ॥

सं0छा0 : **औन्निद्रयं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।**

मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह! परिभवति।।

हे सखि! मुझ मन्दभागिनी के कारण नींद न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य, तथा निश्वासः आदि कष्ट तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं, यह बड़े दुःख की बात है। आचार्य मम्मट '**अत्रदूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यजते।**' इस वृत्ति के द्वारा इस श्लोक के वैशिष्ट्य को स्पष्ट

TESLA

करते हुए कहते हैं कि 'अत्र' इस पद्य में 'दूत्याः' दूती का 'तत्कामुकोपभोगो' उस नायिका के कामुक के साथ उपभोग 'व्यजते' प्रतीत होरहा है अर्थात् व्यंग्य हो रहा है।

4.3.3 काकु के वैशिष्ट्य से (व्यंजना का उदाहरण)

आचार्य मम्मट ने **'काकुध्वनेर्विकारः'** इस वृत्ति द्वारा विशेष प्रकार की कण्ठ ध्वनि को काकुशब्द का अर्थ निरुपित किया है। बोलने के एक विशेष प्रकार (लहजे) से भी अर्थ की व्यंजना होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए आचार्य मम्मट ने नारायण भट्ट विरचित 'वेणीसंहार' नाटक के प्रथम अंक से भीमसेन की उक्ति के प्रतिपादक श्लोक का उदाहरण दिया है।

भीमसेन तथा सहदेव के संवाद में भीमसेन के क्रोध को देखकर सहदेव जब उनसे कहते हैं कि आपके इस क्रोध से गुरुजन (युधिष्ठिर) नाराज हो जायेंगे तो उत्तर में भीमसेन का यह कथन है -

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयां

वने व्याधैः सार्धं सुचिमुषितं वल्कलधरैः।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं

गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु॥

राजसभा में केश तथा वस्त्र खींचे जाने की द्रौपदी की उस प्रकार की अवस्था को देख कर गुरु नाराज नहीं हुए उनको क्रोध नहीं आया। वन में वल्कल धारण कर व्याधों के साथ दीर्घकाल तक निवास करने से (क्रोध नहीं आया), विराट के आवास में (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यों को करते हुए छिप कर जो हम रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया), आज भी उनको कौरवों पर क्रोध नहीं आ रहा है, अपितु मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज हो रहे हैं।

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते।

वृत्ति में इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि यहाँ मेरे ऊपर क्रोध करना उचित नहीं है अपितु कौरवों पर नाराज होना उचित है, यह अभिप्राय काकु द्वारा प्रकाशित हो रहा है। पंचम उल्लास में इसी प्रकार की भीम की उक्ति को काक्वाक्षिप्त व्यंग्य रूप गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

यदि तुम्हारे राजा युधिष्ठिर किसी शर्त पर कौरवों से सन्धि कर भी लें तो क्या मैं सौ कौरवों का युद्ध में क्रुद्ध होकर विनाश नहीं करूँगा? अथवा दुःशासन की छाती का रुधिर क्या नहीं पीऊँगा ? अथवा सुयोधन के उरुओं को गदा के प्रहार से क्या नहीं तोड़ूँगा ?

यह अर्थ, इस पद्य का वाच्यार्थ है, परन्तु भीमसेन के बोलने के ढंग से काकु द्वारा यह अर्थ प्रकट हो रहा है कि युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें, किन्तु मैं तो अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण करके ही रहूँगा। यह प्रतीत होने वाला अर्थ काकु से आक्षिप्त होने के कारण इस पद्य को गुणीभूतव्यंग्य काव्य माना गया है। है।

TESLA

प्रश्न यह है कि 'तथाभूतं उदाहरण भी इसी तरह का है, अतः इसे भी 'काक्वाक्षिप्त' होने से वाक्यसिद्धि का अंग होने से गुणीभूतव्यंग्य क्यों न माना जाए, इसे ध्वनिकाव्य क्यों माना जा रहा है।

न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोविश्रान्तेः।

'प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्ते' इस अंश के द्वारा स्वयं ग्रन्थकार ने समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि पंचम उल्लास के 'मथ्नामि' श्लोक में व्यंग्य काकु आक्षिप्त होने के कारण वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्यार्थ मान कर गुणीभूत व्यंग्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण माना गया है। प्रकृत 'तथाभूतं' में व्यंग्य काकु से आक्षिप्त नहीं होता अपितु प्रश्न उपस्थित कर काकु शान्त हो जाता है तथा काकु द्वारा दूसरा प्रतीयमान अर्थ प्राप्त हो रहा है। इसलिए काकु ध्वनिकाव्य कहा गया है न कि गुणीभूतव्यंग्य ध्वनिकाव्य।

4.3.4 वाक्यवैशिष्ट्य से (व्यंजना का उदाहरण)

मूलप्राकृत : **तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिठ्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।**

एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिठ्ठि॥

सं०छा०: **तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।**

इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न च सा दृष्टिः॥

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्। चलितायां तु तस्यां अन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते, इति व्यज्यते।

उस समय मेरे कपोल पर गड़ाई हुई अपनी दृष्टि को कहीं और नहीं ले जा रहे थे। किन्तु अब, मैं भी वही हूँ, कपोल भी वही हैं, परन्तु तुम्हारी दृष्टि वह नहीं है। यहाँ पर मेरे गाल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखि को देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी। और उसके जाने के बाद कुछ और ही हो गई है। इसलिए तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता पर आश्चर्य हो रहा है- यह व्यङ्ग्यार्थ नायिका के वाक्य से प्रकट हो रहा है। इसलिए वाक्यवैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण माना गया है।

4.3.5 वाच्यवैशिष्ट्य से (व्यंजना का उदाहरण)

उद्देशोऽयं सरस कदलीश्रेणिशोभातिशायी,

कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः।

किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः,

येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम्।

TESLA

हे तन्वि! (कृशोदरि, इस विशेषण से नायिका की मदनवेदनाग्रस्तता सूचित हो रही है) सरस हरे हरे कदली (केले) के वृक्षों की कतार से अत्यन्त सुशोभित (मनोहर) प्रतीत होने वाला

और कुंजों के उत्कर्ष से कारण सुन्दरियों के हाव-भावों को अंकुरित कर देने वाला यह नर्मदा का ऊँचा प्रदेश है। यहाँ पर अभिप्राय यह है कि यह केवल सामान्य नदी नहीं है, अपितु 'नर्म रति सुखं ददाति इति नर्मदा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो असाधारण रति क्रीडा के सुख को देने वाली नदी का ऊँचा प्रदेश है। यहाँ सुरत के मित्र (बार-बार सुरत क्रीडा के लिए उत्तेजना देने वाले) वे पवन बहते हैं जिनके आगे वसन्तादि ऋतुओं का समय न रहने पर भी धनुष धारण किये हुए अत्यन्त उग्ररूप में उत्तेजना देने वाला कामदेव चलता है।

यहाँ पर 'सुरतक्रीडा के लिए कुंज के भीतर प्रवेश करो' यह अर्थ नायक के उक्ति वैशिष्ट्य से अभिव्यंजित हो रहा है।

यहाँ नर्मदा के उन्नत प्रदेश अर्थात् स्थान विशेष और उसके विशेषणीभूत वायु, कुञ्ज आदि रूप वाच्य के वैशिष्ट्य से उक्त व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति हो रही है।

4.3.6 अन्य सन्निधि के वैशिष्ट्य से (व्यंजना का उदाहरण)

मूलप्राकृत : **णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं धरभरम्मि सअलम्मि।**

खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो।।

सं0छा0: **नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मा गृहभरे सकले।**

क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः।

निर्दयी सास घर के सारे कार्य मुझसे ही कराती है, इसलिए समय कभी मिलता भी है तो शाम के समय क्षणमात्र विश्राम मिल जाता है और कभी वह भी नहीं मिलता।

अत्रेति। यहाँ पर सायंकाल का समय संकेतकाल है, यह तथ्य (गुरुजनों की सन्निधि के कारण दूत आदि) किसी तटस्थ के प्रति किसी नायिका द्वारा प्रकट किया जा रहा है।

यहाँ पर अभिप्राय है कि अन्य लोगों की उपस्थिति के कारण स्पष्ट रूप से संकेत काल के बारे में बात करना सम्भव नहीं है, अतः तटस्थ दूत के लिए 'संध्या के समय मिलने का अवसर मिल सकता है' यह बात सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण व्यंजना द्वारा सूचित की जा रही है।

4.3.7 प्रकरण रूप प्रस्ताव के वैशिष्ट्य से (व्यञ्जना वाच्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण)

मूलप्राकृत : **सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।**

एमेअ कित्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम्।।

सं0छा0 : **श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।**

एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम् ।।

TESLA

हे सखि! सुना जाता है कि तुम्हारे प्रिय पति आज एक प्रहर के भीतर ही आएँगे, तो तू यों ही क्यों बैठी है, उनके लिए खाने पीने की व्यवस्था अथवा अपने श्रृंगारादि करने योग्य कार्यों की तैयारी कर।

यहाँ पर 'अद्यैव' से सूचित हो रहा है कि पति कालान्तर में नहीं अपितु शीघ्र ही आ रहा है। 'प्रहरमात्रेण' से उसके आने की शीघ्रता सूचित हो रही है। 'समागमिष्यति' से यह सूचित होता है उसे फिर कहीं जाना नहीं है। इस प्रकार अभिसरणोपयोगी वेषविन्यासादि के प्रसङ्ग में उस रहस्य को जानने वाली उसकी सखि पति के आने की सूचना देकर उसके अभिसरण का निषेध कर रही है। प्रसंग जानने वाले सहृदय हृदय सामाजिक इस व्यङ्ग्यार्थ को समझ जाते हैं।

4.3.8 देश के वैशिष्ट्य से (वाच्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण)

सखि वेषधारी कामुक के साथ आई हुई अपनी सहचरी को देखकर अन्य ससखियों के प्रति नायिका का यह कथन है—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः॥

हे सखियों ! तुम कही अन्यत्र जाकर पुष्पचयन करो और मैं यहाँ पुष्पचयन करती हूँ। मैं दूरतक चलने में समर्थ नहीं हूँ। इसलिए तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ , मुझपर कृपा करो, अर्थात् तुम कहीं और जाकर अपना काम करो यहाँ पर मुझे अपना (मिलन रूपी) काम करने दो।

यहाँ पर यह एकान्त स्थान है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक को यहाँ पर भेज दो। यह बात अपनी विश्वस्त सखी से कोई कह रही है।

4.3.9 काल के वैशिष्ट्य से (वाच्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण)

मू0प्रा0 : **गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुइ मंदभाइणी अहकम्।**

अज्ज पवासं वच्चसि, वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम्॥

सं0छा0 : **गुरुजनपरवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागि नि अहकम्।**

अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥

गुरुजन के परवश रहने वाले हे प्रिय! मैं मन्दभागिनी तुमसे क्या कहूँ। (वास्तविकता में न तो तुमजाना चाहते हो और न मैं भेजना चाहती हूँ, परन्तु माता पिता आदि गुरुजनों के आदेश के कारण) आज (इस वसन्त ऋतु के समय में) यदि जा रहे हो तो जाओ, (आगे) क्या करना चाहिए यह बात (मेरी मृत्यु के बाद) तुम स्वयं सुन लोगे।

अत्रेति । यहाँ 'आज वसन्त के समय यदि तुम जा रहे हो तो जाओ, मैं तो जीवित नहीं रहूँगी, आगे तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नहीं जानती। यह अर्थ यहाँ पर अभिव्यंजित हो रहा है।

TESLA

4.3.10 चेष्टा से चेष्टा पद के ग्राह्य से का उदाहरण

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया,

प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।

आनीतं पुरतः शिरोऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने,

वाचस्तत्र निवारित प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते॥

'दरवाजे के समीप मेरे पहुँचने पर उस अनिन्द्य सुन्दरी ने अपनी दोनों उरुओं को फैलाकर फिर एक दूसरे से चिपका लिया, सिर पर चूँघट काढ लिया आँखे नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाओं को सिकोड़ लिया। यहाँ चेष्टा से प्रच्छन्न रूप में स्थित कान्त विषयक अभिप्राय विशेष व्यंग्य है।

निराकांक्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते। वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन।

निराकाङ्क्षता (जिज्ञासा की निवृत्ति) के लिए और प्रसंग प्राप्त होने से सब भेदों के अलग अलग उदाहरण प्रदर्शित किये गए हैं। वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो दो, तीन तीन आदि भेदों से मिल कर भी इनके उदाहरण हो सकते हैं। इसी क्रम से लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों के व्यंजकत्व के उदाहरणों को समझना चाहिए।

4.4 लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता

आर्थी व्यञ्जना में वाच्य अर्थ की व्यञ्जकता की ही भांति लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जक हो सकते है। आगे कहते है –

अनेन क्रमेण लक्ष्यव्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम्।

इसी क्रम से लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के व्यञ्जकत्व के उदाहरण भी समझ लेने चाहिए। अर्थात् आर्थी व्यञ्जना में जिस प्रकार वाच्य अर्थ की व्यञ्जकता होती है अथवा दिखाई गई है, उसी प्रकार वाच्य के समान लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ भी व्यञ्जक हो सकते हैं।

4.5 आर्थी व्यञ्जना में शब्द सहयोग

सूत्र-37 शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्तयर्थान्तरं यतः।

अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥23॥

शब्देति। नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः।

शाब्दी व्यंजना में जिस प्रकार शब्द मुख्य तथा अर्थ उसका सहकारी होता है, उसी प्रकार यहाँ आर्थी व्यंजना में अर्थ मुख्य रूप से व्यंजक होता है तथा शब्द उसमें सहकारी होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य मम्मट कहते हैं क्योंकि शब्द प्रमाण से गम्य होने वाला अर्थ ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। इसलिए उसके (अर्थ) के व्यंजकत्व में शब्द भी सहकारी होता है।

TESLA

शब्देति। शब्द प्रमाण से गम्य हुआ अर्थ ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है- इस कथन से यह सूचित किया जा रहा है कि अनुमानादि अन्य प्रमाणों से वेद्य अर्थ व्यंजक नहीं होता है। इस प्रकार मम्मटकृत काव्यप्रकाश में अर्थव्यंजकता निणऱ्यात्मक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ।

इति तृतीय उल्लास

अभ्यासार्थ प्रश्न

संक्षिप्त उत्तर दें -

1. **आर्थी व्यञ्जना के भेंदों को समझाइए।**
2. **आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता पर प्रकाश डालिए।**

TESLA

इकाई-5

काव्यप्रकाश-चतुर्थ उल्लास (रससूत्र एवं उनकी विविध व्याख्याएँ)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 ध्वनिकाव्य के भेद

5.2.1 लक्षणा मूलक ध्वनि के भेद

5.2.1.1 अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य

5.2.2.2 अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य

5.2.2 अभिधामूलक ध्वनि

5.2.2.1 विवक्षितवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि के भेद

5.3 रसस्वरूप

5.3.1 रससूत्र की व्याख्याएँ

5.3.1.1 भट्टलोल्लट का मत (उत्पत्तिवाद)

5.3.1.2 शङ्कुक का मत (अनुमितिवाद)

5.3.1.3 भट्टनायक का मत (भुक्तिवाद)

5.3.1.4 अभिनवगुप्त का मत (अभिव्यक्तिवाद)

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् शिक्षार्थी -

ध्वनि काव्य के विभिन्न भेदों तथा अवान्तर भेदों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

अभिधामूलक ध्वनिकाव्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य (रसादि ध्वनि) के विषय में जान जायेंगे।

रस-स्वरूप को समझ सकेंगे

रस-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

TESLA

काव्यशास्त्र में रस के महत्त्व को जान सकेंगे।

रस-सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

रस-सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं की परस्पर तुलना कर सकेंगे।

रस--सूत्र के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों की विवेचना कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

काव्यप्रकाश के **चतुर्थ** उल्लास में तृतीय उल्लास तक काव्यलक्षण के विशेष्यभूत शब्दार्थ का विवेचन पूर्ण हो जाने के बाद यद्यपि अदोष अर्थात् दोषराहित्य, गुण तथा अलङ्कार रूप विशेषणों की व्याख्या की जानी चाहिये थी, परन्तु ये सब काव्य के धर्म होने से तथा धर्मी रूप काव्य का ज्ञान हुए विना धर्मों का ज्ञान असम्भव होने के कारण आचार्य मम्मट ने इन काव्य के धर्मों का प्रतिपादन करने के पूर्व धर्मी रूप काव्य के भेदों का इस चतुर्थ उल्लास में विस्तृत विवेचन किया है – यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपा देयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह।

5.2 ध्वनि काव्य के भेद

मुख्य प्रतिपाद्य ध्वनिकाव्य के भेदों का अत्यधिक विस्तार होने पर भी ग्रन्थकार ने ध्वनिकाव्य के अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के रूप में विद्यमान इन दो प्रमुख भेदों का विशद विवेचन किया है। इनमें प्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूलध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि को अभिधामूलध्वनि भी कहा जाता है। इनमें लक्षणामूलध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं होती इसलिए इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहा जाता है। इसके भी 1. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि 2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि ये दो भेद माने गए हैं।

5.2.1 लक्षणा मूलक ध्वनि के भेद

अविवक्षितवाच्यध्वनि के दोनों भेदों का प्रदर्शन करने के बाद ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने विवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नाम से दो भेदों का प्रदर्शन किया है। इनमें रसादि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा गया है। इस ध्वनि के असंख्य भेद होने के कारण इनका आकलन असम्भव होने के कारण इसे एक रूप में माना गया है। दूसरे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के मुख्य रूप से 1. शब्दशक्त्युत्थ 2. अर्थशक्त्युत्थ तथा 3. उभय शक्त्युत्थ रूप से तीन भेद मान कर इन तीनों के अनेक अवान्तर भेदों में ग्रन्थकार ने 15 भेदों का प्रतिपादन किया है। इसी क्रम में ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की अष्टविधाओं का भी प्रतिपादन किया है। इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार सर्वप्रथम ध्वनिकाव्य के अवान्तर भेदों का विभाजन करते हुए कहते हैं -

सूत्र-38 अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥

TESLA

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षिंत वाच्यं यत्र सः 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्।

अर्थात् जिसमें वाच्यार्थ अविवक्षित अर्थात् अनुपयुक्त होता है, वह अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य कहा जाता है। इसके दो प्रभेद हैं- प्रथम वाच्यार्थ किसी अन्य (वाच्यलक्ष्यसाधारण) अर्थ में परिणत हो जाता है, द्वितीय अत्यन्त तिरस्कृत होता है। इन्हें ही क्रमशः अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।

तात्पर्य यह है कि लक्षणामूलक गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित हो वह अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य है। यहाँ वाच्यार्थ बाधित हो जाता है तथा लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ किसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है। यह व्यङ्ग्य रूप अर्थ अत्यन्त गूढ़ होता हुआ सहृदयमात्रसंवेद्य होता है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता एवं लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण होने से इस ध्वनि को लक्षणा मूलक ध्वनि काव्य भी कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है- 1. अर्थान्तरसङ्क्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य तथा 2. अत्यन्ततिरस्कृत।

5.2.1.1 अर्थान्तरसङ्क्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य

जहाँ वाच्यार्थ स्वरूपतः अविवक्षित अथवा अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर में परिणत हो जाता है, वहाँ 'अर्थान्तरसङ्क्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य' होता है। जैसे -

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

अर्थात् मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि यहाँ पण्डितों का समुदाय उपस्थित है, इसलिये तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर सावधानी पूर्वक व्यवहार करो। यहाँ 'वच्मि' पद अपने वाच्य अर्थ 'कहना' आदि प्रकरण की दृष्टि से अनुपयुक्त होने के कारण अर्थान्तर 'उपदेश' आदि में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण में विद्वानों की सभा में जाते हुए किसी व्यक्ति के लिये पिता अथवा गुरु का कथन है। यहाँ श्रोता को लक्ष्य कर कहा जा रहा है। चूँकि यहाँ वक्ता एवं बोद्धव्य दोनों उपस्थित है, अतः अन्यों से व्यावृत्तकर व्यक्ति की विशेषता को बताने के लिये प्रयोग किया गया है। अतः वाच्यार्थ 'मैं तुमसे कह रहा हूँ (त्वां वच्मि) अनुपयुक्त है तथा भिन्न किन्तु स्वसम्बद्ध अर्थ 'उपदेश योग्य तुमको आप्तवक्ता मैं उपदेश करता हूँ, इस लक्ष्यार्थ में हितकारिता व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह अर्थान्तर वाच्य तथा लक्ष्य दोनों ही अर्थों से समान रूप से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक चमत्कार उत्पन्न करता है।

5.2.1.2 अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य

लक्षणामूलक या अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दूसरे भेद अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का सोदाहरण विवेचन करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि कहीं-कहीं वाच्यार्थ उपयुक्त न होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है, अर्थात् अपने वाच्यार्थ का त्याग कर अन्य अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिये अनेक अपकारों से पीडित कोई व्यक्ति विपरीत लक्षणा द्वारा अपने अपकारी से कहता है -

TESLA

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

अर्थात् हे मित्र! आपने बहुत उपकार किया है, इस विषय में अब क्या कहा जाए। आपने तो केवल सज्जनता ही दिखलाई है। इसलिये ऐसा करते हुए आप सैकड़ों वर्षों तक सुखपूर्वक रहें।

अपकारी मित्र के प्रति अपकृत व्यक्ति का यह कथन है। यहाँ विपरीत लक्षणा से 'उपकृतंम्' आदि का अर्थ बिल्कुल उलटा हो जाता है, अतः वाच्य अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार कर 'उपकृत' आदि शब्द 'अपकृत' आदि अर्थ का बोध कराने लगाते है और श्लोक का अर्थ निम्न रूप में परिणत हो जाता है –

तुमने बहुत बड़ा अपकार किया, उसकी जितनी निन्दा की जाय उतनी कम है। तुम्हारे जैसा अपकारी मित्र इस संसार से जितनी जल्दी चला जाय, उतना अच्छा है।

यहाँ प्रकरणादि से बोद्धव्य (जिसके प्रति कथन किया जा रहा है) व्यक्ति का अपकारी होना ज्ञात होता है। अतः उपकारादि के स्तुति रूप जो मुख्यार्थ है, उसका बाध हो कर विपरीत अर्थ लक्षित होता है। जैसे- 'उपकृतं' के द्वारा 'अपकृतम्', 'सुजनता' के द्वारा 'दुर्जनता', 'सखे' के द्वारा 'शत्रु' तथा 'सुखितम्' के द्वारा 'दुःखितम्' अर्थ मात्र ही लक्षित हो कर अपकार की अधिकता रूप अर्थ ही व्यज्जित होता है।

5.2.2 अभिधामूलक ध्वनि

लक्षणामूलक ध्वनि काव्य के भेदों का वर्णन करने के अनन्तर आचार्य मम्मट अभिधामूलक ध्वनि काव्य के भेदों का वर्णन करते हैं।

विवक्षितवाच्य या अभिधामूलकध्वनि के भेद

सूत्र-39 विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम्। एष च

सूत्र-40 कोऽप्यलक्ष्यव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः।।25।।

जिस ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ अपने स्वरूप से अन्वय योग्य होता हुआ भी व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है वह अभिधामूलक ध्वनि काव्य है। इसे ही विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहा गया है। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित तो होता है किन्तु वह अपने से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराने हेतु अपने को गौण कर लेता है। यहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थपरक हो जाता है तथा उसकी प्रतीति का उपाय मात्र होता है।

तात्पर्य यह है कि अभिधामूलक ध्वनि काव्य में अभिधामूलक व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है। इसमें सर्वप्रथम अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ-बोध होता है तदनन्तर अभिधामूलक व्यञ्जना के द्वारा सहृदयमात्रवेद्य एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। इसी से इस ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि कहा जाता है। इसके दो भेद हैं- अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। पहला अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है। जिसमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के क्रम की

TESLA

प्रतीति नहीं होती है और दूसरा 'सलसंक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है जिसमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित होता है।

5.2.2.1 असंलक्ष्यक्रमध्वनि तथा संलक्ष्यक्रम ध्वनि

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रसादिध्वनि को कहते हैं। इसके अनेक अवान्तर भेद हैं। जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि के तीन भेद- शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ किये गये हैं। पुनः शब्दशक्त्युत्थ के दों भेद- वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि दो भेद तथा अर्थशक्त्युत्थ के 12 अवान्तर भेद किये गए हैं। उभयशक्त्युत्थ के एक भेद को मिला कुल 15 भेद किये गए हैं। असंलक्ष्यक्रम के एक भेद को मिला कर अभिधामूला के 16 भेद स्वीकार किये गए हैं। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद और विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनि के 16 भेदों को मिलाकर ध्वनिकाव्य के 18 भेद (2+16=18) किये गए हैं) यहाँ में अभिघामूल ध्वनि का वर्णन किया जा रहा है।

5.2.2.2 अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-रसादिध्वनि

सूत्र-41 रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नोरसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः॥

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। इसका जो क्रम है वह होते हुए भी अतिशीघ्रता के कारण जहाँ परिलक्षित नहीं होता है, वहाँ अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है। ग्रन्थकार ने 'अक्रमव्यङ्ग्य' न कहकर 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहा है। यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य के क्रम तो है पर वह परिलक्षित नहीं होता है। विभाव, अनुभव आदि की प्रतीति रस नहीं है अपितु रस प्रतीति का कारण हैं। विभाव आदि की प्रतीति के बाद ही रस की प्रतीति होती है। जैसे-कमल के सौ पत्तो को एक साथ सूई चुभाने पर सूई, क्रम हो पत्तो का भेदन होता है परन्तु प्रतीत होता है कि सूई एक साथ सौ पत्तों का भेदन कर रही है अर्थात् क्रम का पता नहीं चलता।

तात्पर्य यह है कि रसादि व्यङ्ग्य हैं तथा विभावादि उसके व्यञ्जक। अतएव विभावादि का रसाभिव्यक्ति के पूर्व सद्भाव होता है, तभी रस की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति का पौर्वापर्य क्रम अवश्य होता है। किन्तु रसोद्रेक के करण सहृदय का चित्त आलुप्त हो जाता है तथा शीघ्रता पूर्वक घटित होने वाले व्यङ्ग्य व्यञ्जक के क्रम का अनुभव नहीं कर पाता है। इसी कारण यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा है। अभिधामूलक ध्वनि का दूसरा भेद लक्ष्यक्रम- व्यङ्ग्य है, यहाँ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का क्रम स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

आदिग्रहणाद् भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि। प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्गथाभिधाने उदाहरिष्यन्ते।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में अभिव्यजित हुए रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में प्रधान रूप से विद्यमान रहते हैं।

TESLA

यही ध्वनि की आत्मा हैं तथा अन्य समस्त गुण-अलङ्कार आदि इनकी चारुता को ही प्रायोजित करते हैं। अतः यह रसादि वहाँ अलङ्कार्य ही हैं।

इस प्रकार जहाँ रसादि प्रधान रूप में व्यङ्ग्य हैं वहाँ अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। और जहाँ पर ये अप्रधान रूप में रहते हैं, कोई अन्य अर्थ काव्य का उद्देश्यभूत होता है वही प्रधान होता है तथा रसादि उसके अंग रूप में आते हैं। यहाँ ये अलङ्कार्य नहीं होते हैं अपितु उत्कर्षधायक होते हैं। वहाँ (रसादि) गुणीभूतव्यङ्गय होने पर (1) रसवत्, (2) प्रेय, (3) ऊर्जस्विन् और (4) समाहित आदि अलङ्कार होते हैं। गुणीभूतव्यङ्गय का निरूपण आचार्य आगे करेंगे।

आचार्य मम्मट इस चतुर्थ उल्लास में रस के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसके कारण के रूप में विभाव, कार्य के रूप में अनुभाव, सहकारी कारण के रूप में व्यभिचारी भाव तथा इनके योग से रत्यादि भावों की रस रूप में परिणति का प्रतिपादन किया है। रससूत्र तथा उस पर अत्यन्त प्रसिद्ध 1. उत्पत्तिवाद, 2. अनुमितिवाद, 3. भुक्तिवाद तथा 4. अभिव्यक्तिवाद सिद्धान्तों की ग्रन्थकार ने गम्भीरतापूर्वक समालोचना की है।

5.3 रसस्वरूप

रस नाट्य एवं काव्य का जीवातभूत तत्त्व है, अतः वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट को काव्य समीक्षा शास्त्र की एक सुविकसित परम्परा दाय के रूप में प्राप्त हुई थी। आचार्य मम्मट के पूर्व यह सुविकसित परम्परा भरत मुनि से प्रारम्भ होकर सतत रूप से आनन्दवर्धन तक आती है जिसकें बाद आचार्य मम्मट इस परम्परा को आगे ले जाते हैं। समुपलब्ध ग्रन्थ के आधार पर आचार्य भरत मुनि को रस मोहान्त का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजनों में आनन्द तत्त्व को प्रतिष्ठित कर रस को ही काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में स्थापित किया है तथा रस एवं ध्वनि के द्वारा उसे अभिव्यङ्ग्य के रूप में व्यवस्थापित किया। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रसस्वरूप का विवेचन तो नहीं किया, किन्तु रस-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए सूत्र शैली में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया है -

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।।

लोकजीवन से ही रसनिष्पत्ति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार विभिन्न व्यञ्जनों, औषधियों एवं द्रव्यों के संयोग से भोज्य द्रव्यों में रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुड़ आदि द्रव्य व्यञ्जनों एवं औषधियों के संयोग से षाडवादिक रस निर्वृत्त होते है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के विभावादिकों के द्वारा स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होते है –

''यथाहि नानाव्यञ्जनोषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पात्तिः तथा नानाभावोपगमात् रसनिष्पत्तिः। यथाहि गुड दिभिः द्रव्यैः व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाड्वादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।''

किन्तु उक्त विवेचन से भरतमुनि को मान्य 'संयोगाद्' एवं 'निष्पत्ति' के अर्थ स्पष्ट नहीं होते, अतः भरतमुनि के इस रससूत्र को आधार बना कर भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा

TESLA

अभिनवगुप्त, इन चार प्रमुख आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से रससूत्र पर अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। साहित्यशास्त्र में ये चारों व्याख्याएँ, क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को आचार्य मम्मट ने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसकी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ, काव्यप्रकाश में विशद विवेचना की है। आचार्य मम्मट रस का स्वरूप व्याख्यात करते हुए कहते हैं -

सूत्र-43 कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥

अर्थात् मनुष्य के हृदय में रत्यादि स्थायीभावों के उदय, विकास तथा तिरोभाव होने में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण होते हैं, साहित्यशास्त्र में उन्हें ही क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहा जाता है। इन्हीं विभावादि के संयोग से व्यक्त स्थायी भावों को 'रस' कहते हैं। तात्पर्य यह है विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभावों के संयोग से परिपुष्ट होकर रति आदि स्थायिभाव आस्वादन योग्य हो जाते हैं, इन्हें ही 'रस' कहा जाता है। जैसा कि भरतमुनि ने कहा भी है -

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कि स्नेहादि (रति) भाव अविच्छिन्नरूप से मनुष्य चित्त में रहते हैं सदा व्यक्त रूप में नहीं रहते हैं, अपितु सूक्ष्म संस्कार रूप में सदा विराजमान रहते हैं। इन्हीं वासनारूपी संस्कारों को साहित्याचार्यों ने स्थायीभाव कहा है। इन स्थायी भावों का वर्गीकरण उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। काव्यप्रकाशकार ने आठ स्थायिभाव माना है।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।

निर्वेद को उन्होंने नौवां स्थायिभाव माना है – **निवेर्दस्थायिभावोऽस्ति**। यही स्थायिभाव रस्यामान या आस्वाद्यमान होकर रस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। प्रथम स्नेहादि (रति) का उत्पादक कारण रमणी आदि द्वितीय उसका परिपोषक कारण चन्द्रोदय, उद्यान आदि। इन्हें ही लोकोत्तरवर्णना- निपुणकवि की कृति में क्रमशः **आलम्बन** तथा **उद्दीपन विभाव** कहा जाता है। पुनश्च हृदय में प्रेम आदि के आविर्भूत होने के अनन्तर भुजाओं का फड़कना आदि जो चेष्टाएँ होती हैं उन्हें काव्य भूमि में **अनुभाव** कहा जाता है तथा स्नेह (रति) आदि भाव के अविर्भाव में जो सहकारी कारण निर्वेद आदि होते हैं उन्हें **व्यभिचारी** अथवा **सञ्चारी भाव** कहा जाता है।

इस प्रकार सहृदय जनों के हृदय में रति आदि भाव सूक्ष्मसंस्कारों के रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। आलम्बन विभाव के द्वारा वह अस्थायी भाव आविर्भूत हो जाता है। उद्दीपन

TESLA

विभाव के द्वारा वह प्रदीप्त होकर अनुभावों के माध्यम से प्रतीति योग्य हो जाता है तथा व्यभिचारीभाव उन्हें परिपुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से स्थायीभाव व्यञ्जना-वृत्ति से आस्वादन योग्य हो जाते हैं। इसे ही आचार्यों ने रस कहा है। आचार्य मम्मट ने अपने मत को पुष्ट करने के लिये भरतमुनि के रससूत्र को उद्धृत कर इसकी चार व्याख्याओं का काव्यप्रकाश में वर्णन किया है।

5.3.1 रससूत्र की व्याख्याएँ

5.3.1.1 भट्टलोल्लट का मत (उत्पत्तिवाद)

भरतमुनिकृत रससूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट सर्वप्रथम हैं। उन्होंने रस का अर्थ नायक-नायिका को अनुभूत होनेवाला रत्यादि स्थायिभाव तथा निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना है। इस कारण इसे **'रसोत्पत्तिवाद'** भी कहा जाता है। यह मत मीमांसासिद्धान्त पर आधारित माना जाता है। इसके अनुसार विभाव अर्थात् ललना आदि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन कारण के द्वारा जो 'रति' आदि भाव उत्पन्न होता है, अनुभाव अर्थात् कटाक्ष, बाहुस्फुरण आदि चेष्टाओं के द्वारा जो प्रतीति के योग्य हो जाता है तथा व्यभिचारी भावों अर्थात् निर्वेदादि सहकारियों के द्वारा पुष्ट होता हुआ अनुकार्य रामादि में साक्षात् रूप से रहता है तथापि नट में भी रामादिरूपता का अनुभव होने के कारण वह उसमें भी प्रतीत होता है, वही **रस** कहलाता है।

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः, रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

तात्पर्य यह है कि ललना, उद्यानादि लौकिक सामग्री ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव हैं तथा रामादिगत रत्यादि भाव के जनक एवं उद्‌बोधक हैं। रामादिगत भुजाक्षेप, आदि ही अनुभाव हैं, जिनके द्वारा रत्यादि स्थायी भाव प्रतीति-योग्य हो जाते हैं तथा निर्वेद आदि सहकारी रूप सञ्चारीभावों से वह परिपुष्ट हो जाते हैं। यह रसरूप स्थायी भाव मुख्यतः रामादि के हृदय में रहता है, किन्तु जब नट राम के समान वेषभूषा धारण कर राम का अभिनय करता है तब सामाजिक जन उसमें ही रामत्व का आरोप कर लेते हैं। जिस प्रकार रज्जु पर सर्प का आरोप कर लेने पर भय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रामादिगत रति नट में भासित होने लगती है और सहृदय सामाजिक के हृदय में विशिष्ट चमत्कार का अनुभव कराती है। वही रस के पद को धारण करती है।

भट्टलोल्लट के अनुसार स्थायी भाव तथा रस साक्षात् रूप से अनुकार्य (राम आदि) में ही रहते हैं तथा उनकी अनुभूति अनुकर्त्ता (नट आदि) में होती है। किन्तु ऐसा मानने पर नायक-नायिका में अनुभूत होने वाले स्थायिभावों से भिन्न काव्यादि में अभिव्यक्त रसादि का विवेचन नहीं हो सकता है। यहाँ लौकिक रति आदि स्थायिभाव ही रस कहलाये तथा इस रस की निष्पत्ति अनुकार्य में होती है सामाजिक में नहीं। अतः सामाजिक के हृदय में चमत्कार का अनुभव होना सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार सामाजिक को होने वाली रस-प्रतीति भान्तिमात्र होगी तथा काव्य आदि भ्रमोत्पादक होने से उपादेय न होंगे। जबकि काव्यादि से रसानुभूति सभी सहृदयों में अनुभवसिद्ध है।

TESLA

भट्टलोल्लट के अनुसार रस की उत्पत्ति मुख्य रूप से अनुकार्य में तथा गौण रूप से नट में मानी गई है। परन्तु सामाजिक को रसानुभूति क्यों होती है, इस ध्यान नहीं दिया गया है। अनुकर्ता राम-सीता वर्तमान में नहीं हैं। अतः इस समय अभिनय करते समय नट में रस की उत्पत्ति कैसे संभव है। इन दो कारणों से यह व्याख्या आचार्यों को ठीक नहीं लगी।

5.3.1.2 शङ्कुक का मत (अनुमितिवाद)

भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्याओं में द्वितीय आचार्य शङ्कुक का 'अनुमितिवाद' है। इसके अनुसार विभाव आदि के द्वारा अनुमेय-अनुमापक रूप सम्बन्ध से स्थायी रूप रस की नट में अनुमिति होती है। इसी कारण इसे 'रसानुमितिवाद' भी कहा जाता है। **राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे –**

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।

मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥

दैवादमहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।

अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगाद्' गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति **श्रीशङ्कुकः**। इस सिद्धान्त में सहृदय की रसानुभूति में चार सोपान हैं -

प्रथम स्तर में नट में राम की प्रतीति होती है। जिस प्रकार चित्राङ्कित अश्व में बालकों को 'यह घोड़ा है' ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सहृदय को भी नट में 'यह राम है' ऐसी प्रतीति हो जाती है। नट में राम की यह प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है, जो सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य नामक चतुर्विध प्रतीति से विलक्षण है। सम्यक् ज्ञान में 'राम एवायम्' अथवा 'अयमेव रामः', मिथ्या प्रतीति तब होती है जब प्रथमतया 'रामोऽयम्' यह ज्ञान हो जाता है तदनन्तर 'न रामोऽयम्' इस ज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध हो जाता है। पुनश्च संशय वहाँ होता है जहाँ 'रामो वा तद्भिन्नो वा' इस प्रकार का ज्ञान होता है एवं सादृश्य ज्ञान वहाँ होता है जहाँ 'रामसदृशोऽयम्' ऐसा ज्ञान होता है। किन्तु 'रामोऽयम्' यह ज्ञान उपर्युक्त चारो ही प्रतीतियों से भिन्न है।

द्वितीय स्तर में कारण कार्य सहकारी में विभावादि का व्यपदेश होता है। अर्थात् नट शृंगारादि रस के काव्य का पाठ करता है तथा सहृदय को उनकी साक्षात् अनुभूति होती है। नट अपने अभिनय कौशल से नायकगत रति आदि भाव के कारण (नायिका आदि) कार्य (भुजाक्षेप आदि) सहकारी (निर्वेद आदि) को प्रकट करता है। वस्तुतः यह सभी कृत्रिम होते हैं तथापि सामाजिक को यह वास्तविक ही प्रतीत होते हैं।

TESLA

तृतीय स्तर में विभावादि द्वारा नट में स्थायी रति आदि का अनुमान होता है। जहाँ- जहाँ विभाव आदि भाव होते हैं, वहाँ-वहाँ रति आदि भाव अवश्य होता है। इस प्रकार के व्याप्ति सम्बन्ध से विभावादि के द्वारा नट में रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है।

चतुर्थ स्तर में सामाजिकों द्वारा रसानुभूति होती है। वस्तुतः यहाँ अविद्यमान रति आदि भाव का अनुमान किया जाता है। यह अनुमीयमान रति आदि भाव सौन्दर्यवान वस्तु होने से आस्वादनीय है। जबकि कलात्मक होने से अन्य अनुमित वस्तुओं की अपेक्षा यह विलक्षण है। इसी हेतु सामाजिकगण अपने वासना-प्रवाह के द्वारा इसका आस्वादन करते हैं। इसे ही रस कहा जाता है। सारांशतः जैसे कुहरा से ढके प्रदेश में धूम की भ्रान्ति से होने वाले धूमव्याप्य अग्नि का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार नट द्वारा स्वकौशल से 'ये विभावादि मेरे हैं इस प्रकार प्रकट हुए, वस्तुतः अविद्यमान विभावादि से व्याप्य रति आदि का अनुमान हो जाता है। इस अनुमीयमान रति का अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों द्वारा आस्वादन किया जाता है। यही रसरूप कही जाती है और यही शङ्कुक का 'रसानुमितिवाद' है।

किन्तु यह मत भी सामाजिक में साक्षात् रसानुभूति के अभाव में युक्तियुक्त नहीं माना जाता है। क्योंकि रस की साक्षात् अनुभूति होती है ऐसा अनुभवसिद्ध है। दूसरे यहाँ अनुमिति के हेतु आदि सभी कल्पित हैं तथा नट में इसकी सम्भावना मात्र है। यदि उसमें इसकी अनुमिति मान भी ली जाए तो भी सहृदय के लिए यह चमत्काराधायक नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति ही चमत्कारोत्पादक होती है। अतएव शङ्कुक का मत भी भरतमुनि के रस सूत्र की समुचित व्याख्या कर पाने में समर्थ नहीं है।

5.3.1.3 भट्टनायक का मत (भुक्तिवाद)

रस सूत्र के तीसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टनायक हैं। उनके मतानुसार विभावादि के द्वारा भोज्यभोजक रूप सम्बन्ध से सामाजिक को रस का भोग या आस्वादन होता है। इसी कारण इसे 'भुक्तिवाद' कहा जाता है। भट्टनायक अपने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के खण्डनपूर्वक स्वाभिमत मत को उपस्थापित करते हैं – **न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः, प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते, इति भट्टनायकः।**

भट्टनायक के मतानुसार अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले तीन प्रकार के व्यक्ति हैं- प्रथम अनुकार्य (नायक, रामादि), द्वितीय अनुकर्ता (नट) तथा तृतीय सामाजिक। रसानुभूति का विशेष सम्बन्ध सामाजिक से ही है। अतः शेष नायक तथा नट उदासीन कहे गए हैं। ताटस्थ्येन रसानुभूति नहीं हो सकती है, अर्थात् नायक अथवा नट में रस की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि अभिनय काल में रामादि नायक विद्यमान नहीं रहते हैं। अतः उसमें रस अथवा स्थायी भावों की प्रतीति कैसे सम्भव है। पुनश्च कल्पित विभावादि से नट में भी रति आदि भावों की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि अनुमान द्वारा असत् पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। साथ ही सीतादि विभावों के भी वास्तविक न होने से ये भी रत्यादि की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकते। सामाजिक के हृदय में भी रस उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि विभावादि का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक अभिव्यक्ति की बात है तो स्थायीभाव रूपी रस की अभिव्यक्ति न तो नट में सम्भव है न ही सामाजिक में, क्योंकि अभिव्यक्ति सद् वस्तु की ही हो सकती है। जो विद्यमान नहीं उसकी

TESLA

व्यञ्जना सम्भव नहीं। इस प्रकार रस की उत्पत्ति, अनुमिति तथा अभिव्यक्ति होना सम्भव नहीं है अपितु इसका भोग ही हो सकता है।

भट्टनायक रस-भोग की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नाट्य, काव्य आदि में अभिधा तथा लक्षणा वृत्ति से भिन्न एक विलक्षण शक्ति होती है, जिसे भावना अथवा भावकत्व व्यापार कहा गया है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा लौकिक कारण-कार्य तथा सहकारी का साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात् विभावादि साधारण रूप से व्यक्तिमात्र के साथ सम्बद्ध प्रतीत होने लगते हैं। इन विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा रति आदि स्थायी भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है और ये भी कल्पना से उन्मुक्त सामान्य रूप में भाषित होने लगते हैं। तभी सहृदय जनों को रस-भुक्ति होती है।

संक्षेप में काव्य तथा नाट्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भी भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापार होता है। काव्यार्थबोध के अनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा सीता आदि रूप विभाव तथा नायकगत रति का साधारणीकरण हो जाता है और सहृदय को भोजकत्व व्यापार के द्वारा उसका आस्वादन होता है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद का यह सिद्धान्त यद्यपि आधुनिक युग में स्वीकृत नहीं है तथापि उनके साधारणीकरण के सिद्धान्त ने रस-सिद्धान्त को एक नई दिशा प्रदान की। काव्य आदि कलाओं में रहने वाला विलक्षण व्यापार साधारणीकरण कहलाता है, जिसके माध्यम से विभावादि सामान्य रूप से सहृदय के समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रति आदि भाव का भी साधारणीकरण हो जाता है, अर्थात् राम आदि विषयक रति भाव सामान्य रूप से सामाजिक के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। इस साधारणीकरण के कारण को भट्टनायक 'भावकत्व व्यापार' कहते हैं। इस व्यापार के द्वारा साधारणी कृत 'रति' आदि स्थायी भाव का सामाजिकों द्वारा आस्वादन होता है। इस प्रकार सहृदय के हृदय में अविद्यमान रति आदि का आस्वादन भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापारों द्वारा प्रतिपादन कर भट्टनायक ने रस-भोग की अलौकिकता की ओर भी सङ्केत किया तथा रसाभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। यहाँ भावकत्व तथा भोजकत्व रूप व्यापारों की नवीन कल्पना के द्वारा सामाजिक में अविद्यमान रति आदि भावों का आस्वादन कहा गया है। तथापि रामादि के रतिभाव की सामाजिक को भावना नहीं हो सकती है, क्योंकि उसने इसका अनुभव नहीं किया है। यदि व्यञ्जना द्वारा सामाजिक के हृदय में रति आदि की भावना मानी जाए तो व्यञ्जना के द्वारा ही रसानुभूति भी हो जाएगी तब भावकत्व तथा भोजकत्व रूप व्यापारों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

5.3.1.4 अभिनवगुप्त का मत (अभिव्यक्तिवाद)

रससूत्र की सर्वमान्य व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को दिया जाता है। उनके मतानुसार स्थायी भावों का विभावादि के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव रूप संयोग होने से रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी हेतु उनका मत 'रसाभिव्यक्तिवाद' कहलाता है।

रस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि –

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यावहारयैर्ममैवैते शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेष-

TESLA

स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधरणोपायबलात् तत्कालविगलित परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्य परिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो, विभावादिजीविताविधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

लोक में प्रमदा अर्थात् उद्यानादि के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण सामाजिकों के हृदय में वासनारूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव हैं, जो काव्य तथा नाट्य में प्रमदा के ही द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। यही कारणत्वादि रूप को छोड़कर विभावना आदि व्यापार को करने के कारण अलौकिक विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होते हैं और ये विभाव 'ये मेरे हैं, 'ये शत्रु के हैं, 'ये उदासीन के हैं, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध की स्वीकृति अथवा 'ये मेरे नहीं हैं, 'ये शत्रु के नहीं हैं', 'ये उदासीन के नहीं हैं, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध का परिहार, इन दोनों ही व्यवस्था का निश्चय न होने पर सामान्य रूप से अभिव्यक्त होते हैं। यद्यपि यह स्थायी भाव एक सामाजिक के भीतर व्यक्तिगत प्रमाता के रूप में ही स्थित होता है। साधारण उपायों के बल से विभावादि उपायों से उस समय सीमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने के कारण आविर्भूत हुआ है, अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित असीमित प्रमातृ भाव वाले प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदय जनों को सामान्य रूप से अनुभूत होता है। यह रति आदि अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ भी आस्वाद मात्र स्वरूप वाला, विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला पाणक रस के समान आस्वाद्यमान, साक्षात् प्रस्फुटित होता हुआ से समस्त अंगों में व्याप्त होकर अन्य सबको आवृत्त करता हुआ सा तथा ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता हुआ, अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला शृङ्गार आदि रस कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि रति आदि स्थायी भाव सामाजिक के हृदय में सूक्ष्म रूप से रहते हैं। जिनके हृदय में ये संस्कार जितने जागृत अवस्था में रहते हैं उन्हें रसानुभूति उतनी ही अधिक तथा स्पष्ट होती है। ये संस्कार उन्हीं सामाजिकों में जागृत अवस्था में रहते हैं, जिन्होंने उद्यान, ललनादि के द्वारा रति आदि की बारम्बार अनुमिति से उनमें निपुणता प्राप्त कर ली है, इन्हें ही रसिक कहा जाता है। ऐसे ही सहृदय सामाजिकों को काव्यादि में रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। जिन प्रमदा आदि के द्वारा सहृदयों के हृदय में रत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति होती हैं, उन्हें काव्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव कहा जाता है। यहाँ विभावना का अर्थ है रत्यादि में आस्वादनयोग्यता का आविर्भाव कराना और इनके कारणभूत ललना आदि को विभाव कहा जाता है, रत्यादि को अनुभव का विषय बनाने वाले अनुभाव, तथा विशेष रूप से रत्यादि भावों का सञ्चारण कराने वाले सञ्चारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। काव्य की इसी अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है।

वस्तुतः लोक में तीन प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं- कुछ का सम्बन्ध स्वयं से होता है, कुछ का सम्बन्ध शत्रु से तथा कुछ तटस्थ होती हैं। इन तीन प्रकार के सम्बन्धों की स्वीकृति अथवा निवृत्ति नहीं होती है, अपितु काव्य-नाट्य में कला की अलौकिकता के कारण एक विलक्षण प्रतीति होती है। इसी के द्वारा सहृदय के हृदय में रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हो

TESLA

जाया करती है और यह अभिव्यक्ति सम्भव होती है विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा। रसास्वादन काल में प्रमाता के हृदय में भी एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का अभ्युदय होता है जिससे उसमें किसी अन्य ज्ञेय का सम्पर्क नहीं हो पाता है और वह प्रमाता असीम प्रमाता हो जाता है। इस अवस्था में रति आदि भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है, तब समस्त सहृदय जन इसका समान रूप से आस्वादन करते हैं। इस अवस्था में आस्वादन से भिन्न आस्वाद्य का अस्तित्व वहाँ नहीं रहता है। यहाँ आस्वादन अथवा चर्वणा तभी तक रहती है जब तक वहाँ विभावादि रहते हैं। विभावादि के अभाव में यहाँ आस्वादन नहीं होता है। साथ ही विभावादि की प्रतीति भी यहाँ पृथक्-पृथक्, नहीं अपितु अखण्डात्मक रस के रूप में होती है। जैसे अनेक पदार्थों को मिला कर बनाया गये पेय पदार्थ का रस उसमें मिलाये गये सभी अवयवों से विलक्षण होता है। उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण अलौकिक रूप से ही रस का आस्वादन होता है। इसके फलस्वरूप चित्त एक अनूठी अवस्था को प्राप्त करता है जिसे चमत्कारावस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में सहृदय अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। इस आनन्द की उपमा ब्रह्मानन्द से की गई है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि रति आदि भाव सहृदय के हृदय में संस्कार रूप में रहते हैं। काव्य-नाट्य में कारणत्वादि को त्याग कर ललना आदि अलौकिक विभाव का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव के रूप में प्रतीत होते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यञ्जना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित होते हैं। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहा जाता है। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने रससूत्र की अपनी व्याख्या में रस-सम्प्रदाय तथा ध्वनि-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत किया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **निम्नलिखित में से रस के कारण कौन हैं?**

   क. विभाव ख. अनुभाव ग. व्यभिचारीभाव **घ. उपर्युक्त सभी**

2. **नाट्यशास्त्र में स्थायीभावों की संख्या कितनी है?**

   क.6 ख. 4 **ग. 8** घ. 2

3. **व्यभिचारीभावों की संख्या कितनी है?**

   क. 20 **ख. 33** ग. 8 घ. 16

5. **रससूत्र के प्रवर्तक आचार्य कौन हैं?**

   क. भामह ख. दण्डी **ग. भरत** घ. वामन

6. **काव्यप्रकाश में रससूत्र पर कितने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है?**

   क.4 ख. 2 ग. 6 घ. 3

7. **विभाव कितने माने गए हैं?**

TESLA

क. 2 ख. 5 ग. 6 घ. 8

8. **व्यभिचारी भाव कितने हैं?**

क. 26 ख. 48 **ग. 33** घ. 16

9. **निम्नलिखित में से भाव के अन्तर्गत किसका प्रतिपादन है?**

क. श्रृंगार ख. करुण **ग. निर्वेद** घ. विभत्स

10. **अनुमितिवाद के प्रतिपादक आचार्य कौन हैं?**

क. शकुक ख. भट्टलोल्लट ग. भट्टनायक **घ. अभिनवगुप्त**

लघुउत्तरीय प्रश्न

संक्षिप्त टिप्पणी लिखें -

क. उत्पत्तिवाद ख. रसनिष्पत्ति ग. अनुकार्य घ. विभाव

ड़. व्यभिचारी भाव च. शान्तोऽपि नवमो रसः

TESLA

इकाई-6

काव्यप्रकाश-समीक्षात्मक प्रश्न-उत्तर

इकाई 1

1. काव्यशास्त्र के अनुसार रससम्प्रदाय की समीक्षा कीजिए।
2. रीति सम्प्रदाय आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए इसके सिद्धान्तों को स्पष्ट कीजिए।
3. काव्यशास्त्र में औचित्य सम्प्रदाय के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए।
4. ध्वनिसम्प्रदाय को स्पष्ट कीजिए।
5. काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक के अवदान को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 2

1. काव्यप्रकाश के मङ्लाचरण के अनुसार ब्रह्मा की रचना (सृष्टि) की अपेक्षा कवि की रचना काव्य सृष्टि की विशेषता का प्रतिपादन कीजिए।
2. आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के प्रयोजनों का विवेचन कीजिए।
3. 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थाणां व्यंजकत्वमपीष्यते' की समीक्षा कीजिए।
4. उत्तमकाव्य तथा मध्यमकाव्य के भेदों को स्पष्ट कीजिए।
5. लक्षणा के कारणों को बताते हुए इसके स्वरूप तथा भेदों को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3

1. आचार्य मम्मट के अनुसार अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के स्वरूप को काव्य उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
2. रसवद् अलङ्कार तथा रसध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करें।

इकाई 4 एवं 5

1. काव्यप्रकाश के अनुसार रससूत्र के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. अनुमितिवाद के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
3. भट्टनायक के भुक्तिवाद की समीक्षा कीजिए।
4. आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की व्याख्या कीजिए।

समीक्षात्मक प्रश्न 2

इकाई 1

प्रश्न-1 काव्यशास्त्र के अनुसार रससम्प्रदाय की समीक्षा कीजिए।

उत्तर- संस्कृत वाङ्मय में 'रस' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। विभिन्न प्रसंगों में यह भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए- ऋग्वेद में यह सोमरस, दूध तथा जल आदि अर्थ में प्रयुक्त है -

TESLA

पावमानीर्यो अध्येति ऋषिभिः संम्भृतो रसः।

तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥

तैत्तिरीयोपनिषत् में 'रस' शब्द का प्रयोग परमानन्द स्वरूप बह्म-तत्त्व के लिए किया गया है -

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के अनुसार रसरूप सामग्री का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद प्राप्त होता है -

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदानभिनयान् रसानथर्वणादपि॥

कोशग्रन्थों में रस शब्द के जल, स्वाद, वीर्य, विश, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु, तथा तिक्तादि भोजन के षड्रस आदि अनेक अर्थ कहे गए हैं। इस प्रकार संस्कृतशास्त्रों में 'रस' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है।

काव्यशास्त्र में श्रृंगारादि रसों के रूप में 'रस' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है-

रसः स्वादे जले वीर्ये श्रृंगारादौ विषे द्रवे।

रागे गृहे धातौ तिक्तादौ पारदेपिऽच॥

अग्निपुराण में वाणी के चातुर्य की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में रस को प्रतिष्ठित किया गया है -

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ॥

काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन अवश्य किया गया है। रीतिकार आचार्य वामन ने रीतिविवेचन के अन्तर्गत, आचार्य रुद्रट् ने अलङ्कार के अन्तर्गत, ध्वनिकार ने ध्वनि के अन्तर्गत तथा वक्रोक्तिकार ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत रस की महत्ता का प्रतिपादन किया है। किन्तु नाट्यशास्त्र में आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम रस को काव्य का मुख्य विधायक तत्त्व के रूप में स्थापित किया है। इसी कारण उन्हें रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। इनके परवर्ती आचार्यों- भोजराज, आचार्य क्षेमन्द्र, आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में स्थापित कर रस सम्प्रदाय को उत्कर्ष प्रदान किया।

धारानरेश भोजराज ने अपने दोनों ग्रन्थों- सरस्वतीकण्ठाभरण तथा श्रृङ्गारप्रकाश, में रस की विस्तृत विवेचना की है। सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति , वक्रोक्ति तथा रसोक्ति , इन तीन रूपों में विभक्त कर इन तीनों में रस रूपिणी रसोक्ति को ही वाङ्मय का श्रेष्ठतम रूप निरूपित किया है -

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।

सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रतिजानते॥

TESLA

साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र, ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों में आनन्दतत्त्व को प्रतिष्ठित कर रस को ही काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में स्थापित किया तथा रस एवं ध्वनि के द्वारा उसे अभिव्यङ्ग्य के रूप में व्यवस्थापित किया। रससिद्धान्तवादी आचार्यों की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने काव्यलक्षण में वाक्यं रसात्मकं काव्यम् कहकर रस को काव्य के प्राणतत्त्व या आत्मतत्त्व रूप में स्थापित किया।

इनके अनुसार तमोगुण तथा रजोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण का उद्रेक एवं प्राबल्य होने पर अखण्ड, अद्वितीय, प्रकाशमान, वेद्यान्तररहित, ब्रह्मानन्दसहोदर, आनन्दमय रस, प्रादुर्भूत होता है

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्य प्रकाशानन्दचिन्मयः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥

ये सभी अवस्थाओं में रस को सुखमय निरूपित करते हैं। करुण रस की सुखात्मकता के विषय में इनका कहना है कि करुणादि की भी सुखरूपता सहृदयहृदयों के अनुभव के आधार पर सिद्ध है -

करुणादावपि रसे जायते सत्वरं सुखम्।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

रसवादी आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनके द्वारा स्थापित रससिद्धान्त, वेदान्त पर अवलम्बित है। इन्होंने रस को आत्मानन्द के सदृश स्वीकार करते हुए लिखा है -

अस्त्यत्रापि रसो वै सः,

रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इत्यादिश्रुतिः।

इसे स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि जिस प्रकार तृणादि से ढका हुआ दीपक, उससे अनावृत्त होने पर, समीपस्थ पदार्थों के साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार, निरावृत्त चैतन्य की भी स्थिति मानी गई है। विभावादि से संवलित रत्यादि को प्रकाशित कर आत्मगत चैतन्य स्वयं भी प्रकाशित हो जाता है।

रसों का स्वरूप

काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में रस तथा भाव का निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने काव्य में रस को सर्वोपरि कहा है। उनके अनुसार काव्य में बिना रस के किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं किया जा सकता है

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

TESLA

आचार्य भरत ने विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया है

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

आचार्य भरत के इस रससूत्र को आधार बना कर भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त, इन चार प्रमुख आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से रससूत्र पर अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। साहित्यशास्त्र में ये चारों व्याख्याएँ, क्रमशः 1.उत्पत्तिवाद, 2. अनुमितिवाद, 3. भुक्तिवाद तथा 4. अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को आचार्य मम्मट ने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यप्रकाश में इसकी विशद विवेचना की है। आचार्य मम्मट का कहना है कि लोक में चित्त में रत्यादि स्थायीभावों के उदय, विकास तथा तिरोभाव होने में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण होते हैं, साहित्यशास्त्र में उन्हें ही क्रमशः 1. विभाव, 2. अनुभाव तथा 3. व्यभिचारीभाव कहा जाता है। इन्हीं विभावादि के संयोग से व्यक्त स्थायीभावों को 'रस' कहते हैं -

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।

रसों की संख्या

काव्यशास्त्र के आचार्य, रसों की संख्या के विषय में एकमत नहीं हैं। भरतमुनि के अनुसार श्रङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत रस के भेद से आठ रसों का प्रातिपादन किया गया है -

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः

वीभत्साद्भुतसंज्ञश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

शान्तरस को इन्होंने नाट्य में स्वीकार नहीं किया। उपर्युक्त इन 8 रसों के अतिरिक्त शान्त, वात्सल्य तथा भक्तिरस का भी समावेश करने पर रसों की संख्या 11 हो जाती है। इन रसों की काव्य में प्राधान्य तथा गौण होने के विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। आचार्य भरत के अनुसार श्रङ्गार, रौद्र, वीर, और, वीभत्स ही प्रधान रस हैं। इनसे ही हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रस उत्पन्न होते हैं। महाकवि भवभूति, एकमात्र करुण रस को ही मूल रस मानते हैं। इनका मानना है कि करुण रस ही प्रधान रस है। बाकी सारे रस, इसी से उत्पन्न होकर, इसी में, समुद्र से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होने वाली तरङ्गों के समान, विलीन हो जाते हैं -

एको रसः करुण एव......

.....यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।।

इसी प्रकार विभिन्न आचार्यों ने रस की भिन्न-भिन्न संख्या को स्वीकार करते हुए भिन्न-भिन्न रसों को महत्त्व प्रदान किया है। लौकिक साहित्य का प्रथम श्लोक; जो क्रौंचवध से मर्माहत महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ था वह रसमय ही था। अत एव रस का महत्त्व काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया और इसी कारण रससम्प्रदाय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में सर्वाधिक अभ्यर्थित है।

TESLA

प्रश्न-2 रीति सम्प्रदाय आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए इसके सिद्धान्तों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- काव्य के विविध प्रतिपादक तत्त्वों में रीति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसे ही काव्यशरीर की आत्मा मानने वाला सम्प्रदाय रीति सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। भामह, रुद्रट, विश्वनाथ आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। इन आचार्यों ने रीति को काव्य के मुख्य शोभाकारक तत्त्व के रूप में स्थापित किया।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है- 'रीतिरात्मा काव्यस्य' । गुण विशिष्ट पदरचना ही रीति है। अत एव रीति सम्प्रदाय में गुणों का विशेष महत्त्व है। गुणों पर अवलम्बित होने के कारण इसे गुण सम्प्रदाय भी कहते हैं। दण्डी ने सर्वप्रथम वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली रीतियों के विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। किन्तु गुण तथा अलङ्कारों के भेद को पृथक रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय वामन को ही जाता है। उन्होंने वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली रीतियों का विस्तृत विवेचन करते हुए गुण तथा अलङ्कारों का भेद भी स्पष्ट किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मान कर उसके दस-दस भेदों का वर्णन किया है। उन्होंने वैदर्भी रीति में सभी दस गुणों का सद्भाव माना है, जबकि गौडी के लिये ओज तथा कान्ति और पाञ्चाली के लिये माधुर्य और प्रसाद गुण ही आवश्यक हैं- समग्रगुणा वैदर्भी, ओजः कान्तिमती गौडीया, माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।

वामन के अनुसार गुण का तात्पर्य **'काव्यशोभाकारक धर्म'** हैं। इस प्रकार काव्यशोभाकारक शब्द तथा अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना ही रीति कही जाती है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दसों गुणों का उल्लेख किया है। ये दस गुण हैं- श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। दण्डी ने भी वैदर्भ मार्ग का प्राण कहते हुए इनका उल्लेख किया है।

रीति शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- मार्ग अथवा गति। वामन के बाद इसका निरूपण विभिन्न रूपों में किया जाने लगा तथा इनकी संख्या में भी अन्तर आया।

रुद्रट ने वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली तथा लाटीया रीति का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन के अनुसार पदसंघटना भी रीति का ही परिष्कृत रूप है जो रस आदि को व्यक्त करती है-व्यनक्ति सा रसादिनाम् (ध्व0) राजशेखर के अनुसार वचनविन्यास का क्रम ही रीति है- वचनविन्यासक्रमो रीतिः। भोजराज ने रीति का अर्थ है- कवि गमन मार्ग। उन्होंने छः रीतियाँ मानी हैं- वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली अवन्तिका, लाटीया तथा मागधी। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने भी रीति का विशद विवेचन कर इसका समन्वित लक्षण प्रस्तुत किया- **'पद संघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्'** (सा0द0 9/1)। उन्होंने चार रीतियाँ स्वीकार की हैं- वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटिका। इस प्रकार काव्यरचना की विशेष शैली अथवा पद्धति ही रीति है। विविध प्रदेशों में विशेष प्रयोग होने से यह उन्हीं प्रदेशों के नामों से प्रसिद्ध हुई।

अलङ्कार तथा गुण का भेद स्पष्ट करने में रीति सम्प्रदाय का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय ने काव्यशास्त्र को आलोचना की नवीन दृष्टि प्रदान की। वामन ने काव्य में शोभा करनवाले धर्म को गुण तथा अतिशय करनेवाले धर्म को अलङ्कार कहा है। भामह ने रस को अलङ्कार कह कर उसे काव्य का बहिरंग साधन माना जबकि वामन ने कान्ति गुण के अन्दर रस का अन्तर्भाव कर काव्य में रस के महत्व पर विशेष बल दिया तथा ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति

TESLA

में किया है। इस प्रकार रीतिसम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक व्यापक है एवं हृदयग्राही है।

प्रश्न-3 काव्यशास्त्र में औचित्य सम्प्रदाय के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए।

<u>उत्तर-</u> काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों में औचित्य सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अनुसार औचित्य की भावना ही रस, ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। सभी प्राचीन साहित्याचार्यों ने औचित्य की रक्षा को महत्त्वपूर्ण माना है। औचित्य का विचार अत्यन्त प्राचीन है। नाट्यशास्त्र में वेशभूषा आदि के औचित्य पर विचार किया गया है -

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।।

आनन्दवर्धनाचार्य भी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि रस का परमरहस्य यह औचित्य ही है और औचित्य का अभाव ही रसभङ्ग का हेतु है –

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।

आनन्दवर्धन ने औचित्य पर विस्तृत विमर्श प्रस्तुत किया है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का जीवनभूत प्राणतत्त्व कहकर औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में 'औचित्य' का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। औचित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् जो जिसके अनुकूल है वही उचित कहा जाता है और उचित के भाव को ही औचित्य कहा जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, देश तथा काल आदि के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इनके औचित्य को सिद्ध किया है।

वस्तुतः औचित्य के बिना न तो अलंकार ही आनन्द उत्पन्न करता है न ही गुण। अलंकार और गुण की आनन्द विधायिका शक्ति औचित्य पर ही आश्रित रहती है। मम्मट इस तथ्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए व्याख्यायित करते हैं -

अपसारय घनसारं, कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।

अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।।

यहाँ लकार प्रयोग (कमलैः अलम् अलम् आलि मृणालैः बाला) तथा गलितप्राय पदों का विन्यास माधुर्य का व्यञ्जक होने से सर्वथा उचित है। इसी प्रकार रस, वृत्त, नाम आदि का औचित्य काव्य में शोभाधायक होता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का औचित्य विचार काव्य विवेचन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रश्न-4 ध्वनिसम्प्रदाय को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- ध्वनि सम्प्रदाय का मूल वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त ही माना जाता है। ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना पूर्व में ही हो चुकी थी, किन्तु इसका स्पष्ट निरूपण आचार्य आनन्दवर्धन ने किया, इसी कारण उन्हें ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। वह स्वयं ही 'ध्वन्यालोक' में कहते हैं- काव्यस्य आत्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात् पूर्वः। इसके पूर्व भी आलङ्कारिक आचार्यों ने पर्याय, समासोक्ति आदि अलङ्कारों के निरूपण में एक प्रतीयमान अर्थ स्वीकार किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट तथा वामन आदि को ध्वनि में साक्षी माना है। पूर्वकाल में भी ध्वनि का विरोध होता रहा है। आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार के ध्वनि विरोधियों का उल्लेख किया है- प्रथम अभाववादी, जो ध्वनि का अभाव मानते रहे हैं। द्वितीय भक्तिवादी, जो ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव मानते हैं। तृतीय अनिर्वचनीयतावादी, जो ध्वनि का अनुभव मानते हुए भी इसकी व्याख्या असम्भव मानते हैं। इन विरोधों का परिहार करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनिवाद की स्थापना कर साहित्यशास्त्र में एक नवीन सूक्ष्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार रस सदा व्यङ्ग्य ही हुआ करता है, यह वाच्य नहीं होता। उन्होंने युक्ति पूर्वक व्यङ्ग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की है तथा ध्वनि के तीन मुख्य भेदों का निरूपण किया- रस, वस्तु तथा अलङ्कार; इनके भी अनेक भेद हैं। रसादि में भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि का समावेश है। ध्वन्यालोक में भी काव्यस्यात्मा ध्वनिः कहकर ध्वनि को काव्य का मूल तत्त्व कहा गया है। यहाँ काव्यात्मा से तात्पर्य रस तत्त्व से ही है। 'ध्वन्यालोकलोचन' में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

ध्वनि का स्वरूप बतलाते हुए ध्वनिकार कहते हैं कि वह काव्य विशेष ध्वनि है जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकट करते हैं, यह प्रतीयमान अर्थ विलक्षण ही होता है, जो रमणियों के लावण्य के समान महाकवियों की वाणी से अभिव्यक्त होता है -

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्नासु।।

ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए उन्होंने गुण, अलङ्कार तथा पदसंघटना रूप रीति आदि के साथ ध्वनि का सम्बन्ध स्थपित किया है। ध्वनि एक व्यापक अर्थवाला शब्द है। 'ध्वन्यालोकलोचन' में इसके पाँच अर्थ कहे गए हैं-

1. शब्दध्वनि जो ध्वनित करता है- ध्वनति यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः ।

TESLA

2. अर्थध्वनि जो ध्वनि करता या कराता है- ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः।

3. व्यङ्ग्य अर्थ जो ध्वनित किया जाता है- ध्वन्यते इति ध्वनिः इति अर्थात् रसादि, वस्तु तथा अलङ्कार रूप अर्थ।

4. शब्दार्थ व्यापार जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है- ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः अर्थात् व्यञ्जना व्यापार।

5. ध्वनिकाव्य जिसमें वस्तु अलङ्कार तथा रसादि ध्वनित होते हैं ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः अर्थात् ध्वनिप्रधानकाव्य। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त विविध सम्प्रदायों में समन्वय की ओर संकेत करता है। यहाँ गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्य-तत्त्वों का सुन्दर एवं सन्तुलित व्यवस्थापन दिखलाई पड़ता है।

प्रश्न-5 काव्यशास्त्र में आचार्य कुन्तक के अवदान को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही किया जाता रहा है। आलङ्कारिक आचार्य भामह के अनुसार वक्र शब्दों का प्रयोग काव्य का अलङ्कार ही होता है- वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। उन्होंने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को पर्याय मानते हुए इसे अलङ्कारों का जीवनदायी तत्त्व कहा है।

आचार्य अभिनवगुप्त भी वक्रोक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्', अर्थात् लोकोत्तर रूप से शब्द अर्थ की अवस्थिति ही शब्द तथा अर्थ की वक्रता है। दण्डी दो प्रकार की उक्ति मानते हैं स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्ति । उनके मत में स्वाभाविक कथन से भिन्न एवं विशिष्ट वक्रोक्ति का स्वरूप होता है। वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य-उत्पत्ति की की कल्पना की गई है। वामन तथा रुद्रट ने वक्रोक्ति को अलङ्कार के रूप में ही स्वीकार किया है, इसी का अनुकरण परवर्ती आचार्यों मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी किया है। किन्तु आचार्य कुन्तक ने भामह तथा दण्डी का विचारों का अनुसरण करते हुए अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा वक्रोक्ति के नवीन स्वरूप की स्थापना की तथा वक्रोक्ति नामक नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते

इस प्रकार वक्रोक्ति का अभिप्राय होगा कवि कौशल पर आधारित जनसाधारण से विलक्षण प्रकार का कथन। आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का प्राण कहते हैं। यह मुख्यतः पाँच प्रकार की होती है- वर्णवक्रता, पदवक्रता, वाक्यवक्रता, अर्थवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता। उनके अनुसार ध्वनि तथा व्यङ्ग्य के समस्त प्रपञ्चों का समावेश वक्रोक्ति में ही हो जाता है। वक्रोक्तिजीवित में वैचित्र्यवक्रता आदि के अन्तर्गत ही उचित रस तथा भाव आदि की योजना द्वारा ही काव्य में चारुता उत्पन्न हो जाती है। इस सम्प्रदाय में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज गुणों सहित अलङ्कारों का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में ही किया गया है -

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो विद्यते यः सहस्त्रधा।

यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।

TESLA

इस प्रकार आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त विलक्षण तथा मौलिक है, किन्तु परवर्ती काल में इसका अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया तथा वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार ही माना जाने लगा। वस्तुतः वक्रोक्ति को बीज रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य भामह को है तथा इस बीज को पूर्णरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को ही प्राप्त है।

इकाई 2

प्रश्न-1 काव्यप्रकाश के मङ्गलाचरण के अनुसार ब्रह्मा की रचना (सृष्टि) की अपेक्षा कवि की रचना काव्य सृष्टि की विशेषता का प्रतिपादन कीजिए।

उत्तर- वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने काव्यस्वरूप के व्याख्यान हेतु दस उल्लासों में साहित्यशास्त्र में अत्यन्त अद्भुत ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध 'काव्यप्रकाश' का प्रणयन किया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में कारिका, सूत्र तथा इन दोनों की विवरणात्मक संक्षिप्त व्याख्या के माध्यम से काव्य के स्वरूप, भेद, दोष, गुण, अलंकार आदि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ भारतीय परम्परा का पालन करते हुए मङ्गलाचरण से किया है। आचार्य मम्मट अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से वाङ्मय की अधिष्ठात्री कविभारती का स्मरण करते हैं। इस मङ्लाचरण में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि के द्वारा निर्मित काव्यसृष्टि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए उसे नियतिकृतनियमों से रहित, एकमात्र आह्लादमय, सर्वथा स्वतन्त्र तथा नवरस सम्मिश्रण के द्वारा अत्यन्त आकर्षक कहा है।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।

अर्थात् जो नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से जो रहित है, जो केवल आह्लाद से परिपूर्ण एवं जो अपने अतिरिक्त अन्य किसी से नियन्त्रित नहीं है अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र है तथा शृंगारादि नौ रसों के कारण आकर्षक है, ऐसी काव्यसृष्टि का निर्माण करने वाली कवि की वाणी अर्थात् सरस्वती विजय को प्राप्त होती है।

प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की वाक्सृष्टि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित चार आधार प्रतिपादित किए हैं- प्रथम, ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की काव्यरूपिणी सृष्टि इसलिए श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि अदृष्ट अथवा असाधारण धर्मरूप 'नियति' की शक्ति से आबद्ध रहती है। द्वितीय, ब्रह्मा की सृष्टि का स्वरूप, सुख-दुःख तथा मोहात्मक है। तृतीय, ब्रह्मा की सृष्टि, 'परमाणु' आदि उपादान कारण तथा कर्मादि सहकारी कारणों के पराधीन रहती है। चतुर्थ, ब्रह्मा की सृष्टि, छह रसों से युक्त है जिनमें कटु, कषायादि रस भी हैं जो, मनोरम नहीं हैं। इन चारों दृष्टियों से कवि की वाक्सृष्टि, विधाता की सृष्टि की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न-2 आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के प्रयोजनों का विवेचन कीजिए।

TESLA

उत्तर जगत् का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नहीं है, प्रत्येक कार्य का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य है। अत एव काव्यरूप कविकृत विलक्षण सृष्टि का प्रयोजनवान् होना समीचीन

ही है। यद्यपि आचार्य मम्मट काव्य का प्रधान प्रयोजन सद्यः परिनिर्वृति स्वीकार करते हैं। तथापि प्रथम उल्लास की द्वितीय कारिका में ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ने काव्य के छह प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

अर्थात् काव्य का निर्माण, यश के लिए, अर्थ (धन की प्राप्ति) के लिए, लोक व्यवहार के ज्ञान के लिए, शिवेतर अर्थात् अनिष्ट या अकल्याण के विनाश के लिए, तत्क्षण परम आनन्द की प्राप्ति के लिए तथा स्त्री के (वचनों के समान) रस भरे शब्दों से कर्त्तव्याकर्त्तव्य के उपदेश के लिए होता है।

आचार्य मम्मट तत्क्षण परम आनन्द की प्राप्ति को काव्यरचना का मुख्य प्रयोजन तथा अन्य सभी प्रयोजनों को इसकी अपेक्षा गौण स्वीकार करते हुए कारिका की व्याख्यात्मिका वृत्ति में सभी प्रयोजनों को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं।

प्रथम 'यशसे' के उदाहरण के रूप में कालिदासादि का निदर्शन किया गया है। कालिदास तथा आदि पद से उनके सदृश दण्डी, भारवि, बाण, जैसे कवियों को काव्यनिर्माण से जैसे अलौकिक यश की प्राप्ति हुई, वैसे ही यश की प्राप्ति, वह प्रयोजन है, जिसे ध्यान में रख कर कवि काव्यनिर्माण में प्रवृत्त होता है।

द्वितीय प्रयोजन धन की प्राप्ति, प्रतिपादित की गई है। धावक को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। धावक ने रत्नावली नाटिका का निर्माण करके महाराज श्रीहर्ष से प्रभूत धन प्राप्त किया, ऐसी प्रसिद्धि है। आदि पद से भोजप्रबन्ध के रचनाकारों ने भोजराज से तथा माघमहाकाव्य के रचनाकारों ने माघ नामक वैश्य से धन प्राप्त किया, ऐसे अर्थ का अनुसन्धान किया जाना चाहिए, ऐसा सुधासागरटीका में उल्लेख मिलता है।

तृतीय व्यवहारज्ञान का अभिप्राय राजादिगत उचिताचार के सम्यग् ज्ञान से है। सर्वसाधारण व्यक्ति; राजादि के सन्दर्भ में कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित रहता है। काव्य-नाट्य आदि में पात्रों के चरित्र-चित्रण के द्वारा सहृदयों में लोक-व्यवहार का परिज्ञान होता है। विशेषतः राजादि के प्रति किस प्रकार का शिष्टाचार व्यवहार में लाना चाहिये, इस बात का ज्ञान साधारण मनुष्यों को काव्यों के द्वारा सहज ही हो जाता है।

काव्य-निर्माण का चतुर्थ प्रयोजन 'शिवेतरक्षतये' अर्थात् अशिव अथवा अमङ्गल का निवारण। तात्पर्य यह है कि अनिष्ट के निवारण के उद्देश्य से भी काव्य-रचना की जाती है। ऐसी प्रसिद्धि है कि बाणभट्ट के मित्र मयूर कवि को शापवशात् कुष्ठरोग हो गया था। तब उन्होंने सूर्यदेव की स्तुति में सौ श्लोकों के काव्य की रचना की जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उन्हें स्वस्थ कर दिया। कालान्तर वह काव्य 'सूर्यशतक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

काव्य-रचना का पञ्चम उद्देश्य है काव्य-श्रवण अथवा पाठ के साथ ही काव्य के रसास्वादन से होने वाले परम आनन्द की प्राप्ति। तात्पर्य यह है कि काव्य का पाठ करने से या उसके श्रवण से विभावानुभावसंचारी भावों का जो संयोजन होता है उसके तत्काल बाद (अविलम्बेन) होने वाले आनन्द की प्राप्ति काव्य निर्माण का प्रयोजन है। इसे ही 'सद्यः परनिर्वृति' शब्द से कहा गया है। यह अलौकिक आनन्दानुभूति की अवस्था है। जिस प्रकार योगी

TESLA

पुरुष को समाधि की दशा में अन्य लौकिक पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता है, उसी प्रकार रसयिता भी काव्यानुशीलन के समय सांसारिक तापों से निवृत्त होकर विलक्षण आनन्द का अनुभव करता है। आचार्य मम्मट इसे उपर्युक्त सभी प्रयोजनों में प्रधान मानते हैं।

काव्य-निर्माण के छठे प्रयोजन का उल्लेख करते हुये मम्मटाचार्य कहते हैं कि प्रेयसी के समान सुमधुर शैली में उचितानुचित का उपदेश भी काव्य सर्जना का प्रयोजन है। इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने तीन प्रकार की उपदेश शैली का उल्लेख किया है -

1. प्रभुसम्मित अर्थात् राजाज्ञा अथवा स्वामी के समान आदेशपूर्वक दिया गया उपदेश, यथा वेदादि शास्त्रों में प्रतिपादित कर्त्तव्याकर्तव्य प्रभुसम्मित उपदेश है।
2. सुहृद सम्मित अर्थात् मित्रों की भाँति लाभ-हानि के वर्णन के द्वारा किसी कार्य में प्रवृत्त होने अथवा न होने का उपदेश, यथा पुराणादि का उपदेश।
3. तृतीय उपदेश कान्तासम्मित है, जिस प्रकार प्रेयसी अपनी सुललित शैली से प्रियतम को अपनी बात सुनने के लिये आकर्षित कर लेती है तथा किसी कार्य को करने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार काव्य भी सरसतापूर्वक श्रोता को रसमग्न करके जीवनोपयोगी शिक्षा प्रदान करता है।

इस प्रकार मम्मटाचार्य ने काव्य के षड् प्रयोजनों का वर्णन उपर्युक्त कारिका में किया है। इनमें से कुछ कवि से सम्बद्ध हैं तो कुछ का सम्बन्ध सहृदय से है तथा कुछ दोनों से सम्बन्ध रखते हैं। उनके द्वारा वर्णित ये काव्य-प्रयोजन अत्यन्त व्यापक हैं जिनमें उत्तम, मध्यम तथा अधम तीनों ही प्रकार के काव्यों के प्रयोजनों का समावेश हो जाता है। यद्यपि लोकव्यवहार, उचितानुचित का उपदेश, अनिष्ट निवारण अर्थ एवं यशकामना काव्य के प्रयोजन हैं तथापि मम्मट ने आनन्दानुभूति को काव्य का मौलिभूत प्रयोजन माना है।

<u>प्रश्न-3</u> 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थाणां व्यंजकत्वमपीष्यते' समीक्षा कीजिए।

<u>उत्तर-</u> काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में आचार्य मम्मट ने शब्द के- वाचक, लक्षक एवं व्यंजक रूप तीन भेदों तथा इनके द्वारा प्रकट होने वाले त्रिविध अर्थों- वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य, की व्यङ्ग्यार्थप्रतिपादिता का वर्णन किया है। यहाँ उन्होंने शब्दार्थ निरूपण के प्रसङ्ग में वाचक, लक्षक तथा व्यंजक, इन तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण किया है। उन्होंने प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए व्यंजनावृत्ति के शाब्दी तथा आर्थी, इन भेदों का उल्लेख करते हुए प्रथम शाब्दी व्यंजना के अभिधामूला व्यंजना तथा लक्षणामूला व्यंजना रूप दो भेद किये हैं।

आचार्य मम्मट ने दोष रहित, गुण सहित सर्वत्र अलंकार सहित लेकिन कहीं-कहीं अलंकार की स्पष्ट प्रतीति न होने पर भी शब्दार्थ युग्म को काव्य कहा है। इन शब्द और अर्थ के स्वरूप क्या है ? इसे स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं -

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।

इसका तात्पर्य यह है कि काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं- वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। इसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते है -

TESLA

वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः।

अर्थात् वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य क्रमशः वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के अर्थ होते है। किन्हीं-किन्हीं के मत में अर्थ चार प्रकार का भी होता है। इसका प्रतिपादन करते हुए मम्मट लिखते है -

तात्पर्योर्थोऽपि केषुचित्।

केषुचित् पद से यहाँ पार्थसारथी मिश्र आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसको का ग्रहण होता है फलतः कारिका का अर्थ होता है पार्थसारथी मिश्र आदि मीमांसकों के मत में वाच्याद् अर्थों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ भी होता है। यहाँ कारिका में 'केषुचित' पद का प्रयोग करके मम्मट ने तात्पर्यार्थ के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करते हैं। उपर्युक्त त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकता का प्रतिपादन करते हुए मम्मट लिखते है -

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।।

तात्पर्य यह है कि प्रायः सभी अर्थों की व्यञ्जकता भी मानी जाती है। वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह लिखते हैं -

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्पित्ति साहिअं तुमए।

ता भज किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ।।

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।

तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी।।

अर्थात्, हे माता! आज घर की सामग्री नहीं है यह तुमने बतला दिया है तो अब यह बताओ कि क्या करना चाहिए क्योंकि दिन ऐसे ही नहीं बना रहेगा।

उपर्युक्त पद्य में यह कहने वाली वधू स्वयं विहार के लिए जाना चाहती है यह व्यंग्य है। इसी प्रकार लक्ष्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण देते हैं -

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए।

समावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए।।

साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।

सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया।।

अर्थात्, हे सखि! उस सुन्दर के पास बार-बार जाकर तुमने बड़ा कष्ट उठाया अपने सद्भाव और स्नेह के सदृश जो तुमको करना चाहिए था, वह तुमने कर लिया।

इस प्रस्तुत पद्य में नायिका द्वारा सखि के कृत्य के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति हेतु कहे गए इस कथन में- मेरे प्रियतम के साथ रमण करके तुमने मेरे साथ शत्रुता की है यह लक्ष्यार्थ है और उससे कामुक विषयक अपराध का प्रकाशन व्यंग्य है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण निम्नलिखित है।

TESLA

उठा णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।

जिम्मलमरगअभाअण परिट्ठिआ संखसुत्ति व्व॥

पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव॥

अर्थात् देखो कमल के पत्ते पर निश्चल और निष्पन्द वलाका निर्मल मरकत मणि की तश्तरी में रखी हुई शंख शुक्ति की तरह प्रतीत होती है।

यहाँ बलाका के निश्चल होने से उसकी निर्ममता और उससे उस स्थान का जनरहित होना व्यंग्यार्थ है अतः यह संकेत स्थान है यह बात व्यज्जित होती है अथवा कोई नायिका-नायक से कह रही है कि तुम झूठ बोल रहे हो तुम यहाँ नहीं आये अन्यथा ये वलाका इस प्रकार निश्चल और निष्पन्द नहीं रह सकती थी।

इस प्रकार 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते' इस कारिकांश के द्वारा आचार्य मम्मट वाचक, लक्षक एवं व्यंजक रूप त्रिविध शब्दों के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य रूप तीनों ही अर्थों में भी व्यंजकता स्वीकार करते हैं।

प्रश्न-4 उत्तमकाव्य तथा मध्यमकाव्य को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- प्राचीन काल से ही विभन्न साहित्याचार्यों ने काव्य के भेद-प्रभेदों पर विचार किया है। प्रायः आचार्यों ने रचना शैली के आधार पर काव्य के भिन्न-भिन्न भेद स्वीकार किये हैं। प्रारम्भ में काव्य के गद्य तथा पद्य रूप भेद ही माने गये। किन्तु दण्डी तथा भामह जैसे आचार्यों ने भाषा के आधार पर भी काव्य के भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश काव्य सम्मिलित हैं। परवर्ती काल में महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, चम्पू, नाट्य आदि अनेक भेद तथा प्रभेद कहे गये। ध्वनिवादी आचार्यों ने यद्यपि काव्य भेदों पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है, पर आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्याभास कहते हुए काव्य के तीन प्रभेदों; ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्र काव्य का उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट ने उनका अनुसरण करते हुये इन्हीं प्रभेदों का उत्तम, मध्यम तथा अवर काव्य के रूप में निर्देश किया है। उत्तमकाव्य (ध्वनि काव्य) का लक्षण करते वह कहते हैं -

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

यह (काव्य) वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशयित होने से उत्तमकाव्य कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अत्यधिक उत्कर्ष को प्राप्त कर चमत्कार उत्पन्न करे वह 'उत्तमकाव्य' है। काव्य का प्रधान प्रयोजन है **'सद्यः परनिर्वृति'**। सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना ही काव्य का मुख्य उद्देश्य होता है और इसकी उत्पत्ति रसानुभूति से होती है। जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ का उत्कर्ष होता है उसमें ही रसभाव भी अतिशायित होता है। इसी कारण यह काव्य उत्तमकाव्य कहा जाता है।

उपर्युक्त उत्तमकाव्य के लक्षण में प्रयुक्त ध्वनि पद को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जैसे व्याकरण में प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति करने वाले वर्ण को ध्वनि कहा जाता हैं। उसी प्रकार साहित्यशास्त्र में वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधानभूत किसी व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना करने

TESLA

वाले शब्दार्थ युगल को ध्वनि कहा जाता है। जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अतिशयित होकर चमत्कार उत्पन्न करता है वह काव्य ही उत्तम काव्य कहा जाता है। इसे ही ध्वनि काव्य भी कहा जाता है। यहाँ वाच्य अर्थ का तात्पर्य शब्द के स्वाभाविक अर्थ से है, जो अभिधा के माध्यम से स्वतः प्रकट होता है और व्यङ्ग्यार्थ वह है जो वाच्यार्थ से भिन्न छिपा हुआ अर्थ है। यह व्यञ्जना से अभिव्यक्त होता है। मम्मट व्यञ्जना प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं। यथा -

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे

वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

अर्थात् झूठ बोलने वाली दूती मुझ प्रियजन की पीड़ा को न समझने वाली तू यहाँ से बावड़ी में स्नान हेतु गई थी न कि उस अधम के पास क्योंकि तेरे स्तनों के कोरों का चन्दन पूर्णतः छूट गया है, तेरे अधरों की लालिमा समाप्त हो गई है तथा नयनों का काजल पुँछ गया है और पतली काया अत्यन्त पुलकित है।

इस पद्य में विदग्धा नायिका अपनी दूती को ताड़ना दे रही है जिसने उसे धोखा देकर अनुचित कर्म किया है। यहाँ निषेधमूलक वाच्य अर्थ (बावड़ी में स्नान हेतु गई थी न कि उस अधम के पास) की अपेक्षा विधिमूलक व्यङग्य अर्थ (उस अधम के पास ही गई थी) अत्यधिक अतिशायित होकर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। इसी कारण मम्मट ने इसे उत्तम काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

मध्यम काव्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य) का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं- अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

तात्पर्य यह है कि वैसा न होने पर अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशायित न होने पर मध्यम काव्य होता है। इसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहा जाता है।

इसका अर्थ हुआ कि वह काव्य जहाँ व्यङ्ग्यार्थ तो रहे किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण रहे और वाच्य अर्थ स्वयं ही प्रधान होता हुआ चमत्कार उत्पन्न करे तो वह मध्यम काव्य है। यथा -

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम्।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

अर्थात् हाथ में अशोक की नवमञ्जरी को लिये हुये ग्रामीण युवक को बारम्बार देखकर तरुणी की मुख-कान्ति मलीन हो गई।

प्रस्तुत उदाहरण में व्यङ्ग्य अर्थ (अभिसार के लिये न जा पाना) वाच्यार्थ (मुख-कान्ति का मलीन होना) के द्वारा ही विप्रलम्भ का पोषण कर रहा है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। यहाँ वाच्य

TESLA

अर्थ ही व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। यहाँ अतः व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने से यह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण है। इसे ही मम्मट ने मध्यम काव्य कहा है।

प्रश्न-5 लक्षणा के कारणों को बताते हुए इसके स्वरूप तथा भेदों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- आचार्य मम्मट ने शब्द के- वाचक, लक्षक एवं व्यंजक रूप तीन भेदों तथा इनके द्वारा प्रकट होने वाले त्रिविध अर्थों- वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्यार्थ का वर्णन किया है। इनमें साक्षात् संकेतित अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द वाचक कहलाता है तथा उसका बोध कराने वाला व्यापार अभिधा शब्द से अभिहित होता है। जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर, मुख्यार्थ के साथ अन्यार्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढि से अथवा प्रयोजन विशेष से जिसके द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह आरोपित व्यापार लक्षणा कहा जाता है -

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूदितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।

इस प्रकार लक्षणा के तीन हेतु स्पष्टतः प्रकट होते हैं- मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ और अन्यार्थ का सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन। रूढि लक्षणा का उदाहरण ''कर्मणि कुशलः है तथा प्रयोजवती लक्षणा का उदाहरण 'गंगायाम घोषः' है।

लक्षणा उपादान तथा लक्षण के भेद से दो प्रकार की होती है। इन दोनों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य मम्मट लिखते है -

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थ स्वसमर्पणम्।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।

शुद्धा लक्षणा के दो भेद होते है, उपादान तथा लक्षण लक्षणा अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अन्य अर्थ का आक्षेप करना उपादान लक्षणा तथा दूसरे के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्य अर्थ का परित्याग लक्षण लक्षणा कहलाती है। ये दोनों भेद गौणी लक्षणा के नहीं होते है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' उपादान लक्षणा का उदाहरण है। क्योंकि कुन्त पद के द्वारा अपने प्रवेश क्रिया की सिद्धि के लिए स्वसंयुक्त पुरुषों का आक्षेप होता है। 'गंगायाम् घोषः' लक्षण लक्षणा का उदाहरण है। क्योंकि गंगा पद घोष की अधिकरणता की सिद्धि के लिए अपने जलप्रवाह रूप मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है।

शुद्धा के उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा इन दोनों भेदों के स्वरूप का प्रतिपादन करने के अनन्तर ग्रन्थकार शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणा के सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से दो प्रकार प्रतिपादित किये हैं। सारोपा लक्षणा का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए मम्मट लिखते हैं -

सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण तथा आरोप का विषय दोनों उक्त होते हैं वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जैसे 'गौर्वाहीकः' में आरोप्यमाण गौ तथा आरोप का विषय वाहीक शब्दतः कथित है।

TESLA

साध्यवसना लक्षणा का लक्षण प्रतिपादन करते हुये आचार्य मम्मट लिखते हैं -

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका।

अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण के द्वारा आरोप विषय निगीर्ण हो जाए वहाँ साध्यवसाना लक्षणा कही जाती है।

उपर्युक्त दोनों भेद सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से क्रमशः गौणी तथा शुद्धा लक्षणा के भेद माने जाते हैं।

भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा गौणी शुद्धौ च विज्ञेयौ।

जहाँ सादृश्य सम्बन्ध होता वहाँ गौणी तथा सादृश्येतर सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा होती है। गौर्वाहीकः तथा गौरयम् गौणी लक्षणा के उदाहरण है। आयुर्घतम् तथा आयुरेवेदम् शुद्धा लक्षणा के उदाहरण हैं क्योंकि आयु और धृत में कार्यकारण भाव सम्बन्ध है।

इस प्रकार उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा रूप दोनों भेदों के साथ शुद्धा तथा गौणी दोनों में से प्रत्येक के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप दो दो भेदों को मिलाकर लक्षण के छः भेद होते है -

लक्षणा तेन षड्विधा।

रूढि लक्षणा व्यंग्य से रहित तथा प्रयोजनवति लक्षणा व्यंग्य सहित होती है। पुनः व्यंग्य के दो भेद हैं- गूढ़ तथा अगूढ़। सहृदयमात्रगम्य व्यंग्य गूढ़व्यंग्य कहलाता है, यथा -

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं।

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।

उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं।

बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥

अर्थात् मुखपर मुस्कराहट खिल रही है। बांकपन दृष्टि का दास हो रहा है, चलने में हाव भाव छलक रहे है। बुद्धि मर्यादा का अतिक्रमण कर रही है। छाती पर स्तनों की कलियां निकल रही है। जांघे अवयवों के बन्ध से उभर रही है। बड़ी प्रसन्नता की बात है। कि उस चन्द्रवदनी के शरीर में यौवन का उभार विलोल कर रहा है।

यहाँ मुख का सौरभ आदि व्यंग्य अर्थ केवल सहृदयों को ही प्रतीत होता है। अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण निम्नलिखित है।

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि॥

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते है, यौवन का मद ही कामिनियों को लतितो को उपदेश कर देता है। यहाँ रति चेष्टाओं का आविष्करण रूप व्यंग्य सर्वजनसंवेद्य है। पुनः व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा तीन प्रकार की होती है- अव्यंग्या, गुढ़व्यंग्या और अगूढव्यंग्या

TESLA

इकाई 3

प्रश्न-1 आचार्य मम्मट के अनुसार अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनि के स्वरूप को उदाहरण सहित स्पष्ट करें ।

उत्तर- प्रथम उल्लास में काव्य के लक्षण तथा भेदों का वर्णन करने के अनन्तर आचार्य मम्मट ने काव्य के अवान्तर भेदों का विवेचन अपेक्षित मानकर चतुर्थ उल्लास में ध्वनिकाव्य के भेदों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। ध्वनिकाव्य के सर्वप्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितवाच्यध्वनि रूप द्विविध भेद हैं। इनमें प्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणा मूलध्वनि तथा विवक्षितवाच्यध्वनि को अभिधामूलध्वनि भी कहा जाता है। इनमें लक्षणामूल ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं होती इसलिए इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहा जाता है। इसके भी दो भेद माने गए हैं- अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि।

अविवक्षितवाच्यध्वनि के दोनों भेदों का कथन करने के बाद आचार्य मम्मट ने विवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् अभिधामूलकध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नाम से दो भेद कहे हैं। इनमें रसादि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा गया है। इस ध्वनि के असंख्य भेद होने के कारण इनका आकलन असम्भव होने के कारण इसे एक रूप में माना गया है। द्वितीय संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के मुख्यतः शब्दशक्तयुत्थ, अर्थशक्तयुत्थ तथा उभयशक्तयुत्थ रूप तीन भेद मान कर इन तीनों के अनेक अवान्तर भेदों में उन्होंने 15 भेदों का प्रतिपादन किया है। इसी क्रम में वह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की अष्टविधाओं का भी प्रतिपादन करते हैं -

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।।

अर्थात् जिसमें वाच्यार्थ अविवक्षित अर्थात् अनुपयुक्त होता है, वह अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य कहा जाता है। इसके दो प्रभेद हैं - प्रथम वाच्यार्थ किसी अन्य (वाच्यलक्ष्य साधारण) अर्थ में परिणत हो जाता है, द्वितीय अत्यन्त तिरस्कृत होता है। इन्हें ही क्रमशः अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि लक्षणामूलक गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित हो वह अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य है। यहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ किसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है। यह व्यङ्ग्य रूप अर्थ अत्यन्त गूढ़ होता हुआ सहृदयमात्रसंवेद्य होता है। व्यङ्यार्थ की प्रधानता एवं लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण होने से इस ध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य भी कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है- अर्थान्तरसङ्क्रमित अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनिकाव्य।

अर्थान्तरसङ्क्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य

जहाँ वाच्यार्थ स्वरूपतः अविवक्षित अथवा अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर में परिणत हो जाता है, वहाँ 'अर्थान्तरसङ्क्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य' होता है। जैसे -

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहिः तत्।।

TESLA

अर्थात्, मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि यहाँ पण्डितों का समुदाय उपस्थित है, इसलिये तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर सावधानीपूर्वक व्यवहार करो। यहाँ 'वच्मि' पद अपने वाच्य अर्थ 'कहना' आदि प्रकरण की दृष्टि से अनुपयुक्त होने के कारण अर्थान्तर 'उपदेश आदि में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण में विद्वानों की सभा में जाते हुए किसी व्यक्ति के लिये पिता अथवा गुरु का कथन है। यहाँ श्रोता को लक्ष्य कर कहा जा रहा है, अतः वाच्यार्थ 'मैं तुमसे कह रहा हूँ' अनुपयुक्त है तथा भिन्न किन्तु स्वसम्बद्ध अर्थ 'उपदेश योग्य तुमको आप्तवक्ता मैं उपदेश करता हूँ', इस लक्ष्यार्थ में हितकारिता व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह अर्थान्तर वाच्य तथा लक्ष्य दोनों ही अर्थों से समान रूप से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक चमत्कार उत्पन्न करता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनिकाव्य

काव्य प्रकाशकार अर्थान्तर सङ्क्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि का निरूपण कर चुकने के बाद अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का लक्षण करते हुए कहते है कि कहीं-कहीं वाच्यार्थ उपयुक्त न होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है, अर्थात् अपने वाच्यार्थ का त्याग कर अन्य अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिये अनेक अपकारों से पीडित कोई व्यक्ति विपरीत लक्षणा द्वारा अपने अपकारी से कहता है -

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

अर्थात् हे मित्र! आपने बहुत उपकार किया है, इस विषय में अब क्या कहा जाए। आपने तो केवल सज्जनता ही दिखलाई है। इसलिये ऐसा करते हुए आप सैकड़ों वर्षों तक सुखपूर्वक रहें।

यहाँ प्रकरणादि से बोद्धव्य (जिसके प्रति कथन किया जा रहा है) व्यक्ति का अपकारी होना ज्ञात होता है। अतः उपकारादि के स्तुति रूप जो मुख्यार्थ है, उसका बाध हो कर विपरीत अर्थ लक्षित होता है। जैसे- 'उपकृतं के द्वारा 'अपकृतम्', 'सुजनता के द्वारा 'दुर्जनता', 'सखे' के द्वारा 'शत्रु' तथा 'सुखितम्' के द्वारा 'दुःखितम्' अर्थ मात्र ही लक्षित हो कर अपकार की अधिकता रूप अर्थ ही व्यञ्जित होता है।

विवक्षितवाच्य अथवा अभिधामूल ध्वनिकाव्य

लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य के भेदों का वर्णन करने के अनन्तर आचार्य मम्मट अभिधामूलक ध्वनिकाव्य के भेदों का वर्णन करते हैं। ..

विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।

कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः॥

जिस ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ अपने स्वरूप से अन्वय योग्य होता हुआ भी व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है वह अभिधामूलक ध्वनिकाव्य है। इसे ही विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहा गया है। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित तो होता है किन्तु वह अपने से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति

TESLA

कराने हेतु अपने को गौण कर लेता है। यहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थपरक हो जाता है तथा उसकी प्रतीति का उपाय मात्र होता है।

तात्पर्य यह है कि अभिधामूलक ध्वनिकाव्य में अभिधामूलक व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है। इसमें सर्वप्रथम अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ-बोध होता है तदनन्तर अभिधामूलक व्यञ्जना के द्वारा सहृदयमात्रवेद्य एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। इसी से इस ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि कहा जाता है। इसके दो भेद हैं - अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ।

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।

भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः॥

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। इसका जो क्रम है वह होते हुए भी अतिशीघ्रता के कारण जहाँ परिलक्षित नहीं होता है, वहाँ अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है।

तात्पर्य यह है कि रसादि व्यङ्ग्य हैं तथा विभावादि उसके व्यञ्जक। अत एव विभावादि का रसाभिव्यक्ति के पूर्व सद्भाव होता है, तभी रस की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति का पौर्वापर्य क्रम अव य होता है। किन्तु रसोद्रेक के करण सहृदय का चित्त आलुप्त हो जाता है तथा शीघ्रतापूर्वक घटित होने वाले व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के क्रम का अनुभव नहीं कर पाता है। इसी कारण यह अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा है। अभिधामूलक ध्वनि का दूसरा भेद लक्ष्यक्रम- व्यङ्ग्य है, यहाँ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का क्रम स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में अभिव्यञ्जत.........हुए रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में प्रधान रूप से विद्यमान रहते हैं। साथ ही यहाँ यही ध्वनि की आत्मा हैं तथा अन्य समस्त गुण-अलङ्कार आदि इनकी चारुता को ही प्रायोजित करते हैं। अतः यह रसादि वहाँ अलङ्कार्य ही हैं।

इस प्रकार जहाँ रसादि प्रधान रूप में व्यङ्ग्य हैं वहाँ अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। और जहाँ पर ये अप्रधान रूप में रहते हैं, कोई अन्य अर्थ काव्य का उद्देश्यभूत होता है वही प्रधान होता है तथा रसादि उसके अंग रूप में आते हैं। यहाँ ये अलङ्कार्य नहीं होते हैं, अपितु उत्कर्षाधायक होते हैं।

प्रश्न-2 रसवद् अलङ्कार तथा रसध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करें।

उत्तर- प्रस्तुत प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है कि जिस काव्य में रस की प्रधानता रहती है तथा वह रस अलङ्कार्य होता है, वहाँ उस काव्य में रसध्वनि कही जाती है, जैसे हनुमन्नाटक का पद्य जिसमें इन्द्रजीत बन्दरों को सम्बोधित करते हुए कह रहा है, इसे वीर रस का उदाहरण माना जाता है- हे शूद्र बन्दरों! तुम डरो मत, क्योंकि इन्द्र के हाथी ऐरावत के गण्डस्थल का भेदन करने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं, इसलिए तुम लोगों को डरने की आवश्यकता नहीं है।

हे लक्ष्मण! तुम भी हट जाओ। तुम मेरे क्रोध के लायक नहीं हो क्योंकि मैं मेघनाद हूँ (तुमलोगों से मैं क्या लडूँगा) मैं तो थोड़ी-सी भौहें टेढ़ी करने भर से समुद्र को वश में करने

TESLA

वाले राम को खोज रहा हूँ। यहाँ पर राम से लड़ने का स्थायीभाव उत्साह वीररस में परिणत हो गया है तथा पद्य में इसी की प्रधानता होने के कारण यह रसध्वनि का उदाहरण है -

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा

युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।

सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः

किञ्चिद् भ्रूभंङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि।।

इसके विपरीत रस जब अलंङ्कार्य न होकर प्रतिपाद्य का उत्कर्षाधायक बन जाता है उस समय वह रसवद् अलङ्कार कहते हैं तात्पर्य यह है कि जब मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी जब भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता में से कोई एक प्रधानता को प्राप्त हो जाता है तब वह सब रसवद् अलंकार कहलाते हैं

मुख्य रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।

आचार्य मम्मट ने इसे समझाने के लिए स्वयं के विवाह हेतु वर के रूप में बारात में विद्यमान राजा के भृत्य का उदाहरण दिया है, तात्पर्य यह है कि राजा का भृत्य गौण होने पर भी अपने विवाह की बारात में प्रधान स्थान में रहता है तथा उसका स्वामी होने पर भी राजा की स्थिति अप्रधान हो जाती है -

ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

उदाहरण के लिए 'महावीरचरित' नाटक के द्वितीय अंक में सीता का आलिन करने हेतु प्रस्तुत राम की; परशुराम के आकस्मिक आगमन पर कही गई उक्ति , जिसमें आवेग तथा हर्ष रूप भावों की सन्धि हुई है- प्रसिद्ध गौरवशाली, तप तथा पराक्रम के निधिस्वरूप परशुरामजी के आगमन से उनके सत्संग का प्रेम और वीररस का आवेग मुझे खींच रहे हैं। दूसरी ओर हरिचन्दन के समान शीतल और स्निग्ध आनन्ददायक वैदेही का यह आलिंगन मुझे चेतनाशून्य सा करता हुआ (वहाँ जाने से) रोक रहा है -

उत्सिक्तस्य तपः पराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः

सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः।

वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय

न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धोरुणध्द्यन्यतः।।

यहाँ हर्ष तथा आवेग दोनों ही भावों की सन्धि होने से प्रधान रस के होते हुए भी भावसन्धि की प्रधानता के कारण रसवद् अलंकार है।

इकाई 4

TESLA

<u>**प्रश्न-1**</u> काव्यप्रकाश के अनुसार रससूत्र के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजनों में आनन्दतत्त्व को प्रतिष्ठित कर रस को काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में स्थापित किया है तथा रस एवं ध्वनि के द्वारा उसे अभिव्यङ्ग्य के रूप में व्यवस्थापित किया। उन्होंने आचार्य भरत के द्वारा नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के विचारों का भी उल्लेख किया है। भरतमुनि रस का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं -

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

भरतमुनि के इस रससूत्र को आधार बना कर भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त, इन चार प्रमुख आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से रससूत्र पर अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। साहित्यशास्त्र में ये चारों व्याख्याएँ, क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को आचार्य मम्मट ने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसकी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ, काव्यप्रकाश में विशद विवेचना की है। आचार्य मम्मट रस का स्वरूप व्याख्यायित करते हुए कहते हैं -

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥

अर्थात् मनुष्य के हृदय में रत्यादि स्थायीभावों के उदय, विकास तथा तिरोभाव होने में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण होते हैं, साहित्यशास्त्र में उन्हें ही क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहा जाता है। इन्हीं विभावादि के संयोग से व्यक्त स्थायी भावों को 'रस' कहते हैं। तात्पर्य यह है विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभावों के संयोग से परिपुष्ट होकर रति आदि स्थायिभाव आस्वादन योग्य हो जाते हैं इन्हें ही 'रस' कहा जाता है। जैसा कि भरतमुनि ने कहा भी है -

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कि स्नेहादि (रति) भाव अविच्छिन्नरूप से मनुष्य चित्त में रहते हैं सदा व्यक्त रूप में नहीं रहते हैं, अपितु सूक्ष्म संस्कार रूप में सदा विराजमान रहते हैं। इन्हीं वासनारूपी संस्कारों को साहित्याचार्यों ने स्थायीभाव कहा है। इन स्थायी भावों का वर्गीकरण उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। प्रथम स्नेहादि (रति) का उत्पादक कारण रमणी आदि द्वितीय उसका परिपोषक कारण चन्द्रोदय, उद्यान आदि। इन्हें ही लोकोत्तरवर्णना- निपुणकवि कृति में क्रमशः आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव कहा जाता है। पुनश्च हृदय में प्रेम आदि के आविर्भूत होने के अनन्तर भुजाओं का फड़कना आदि जो चेष्टाएँ होती हैं उन्हें काव्य भूमि में अनुभाव

TESLA

कहा जाता है तथा स्नेह (रति) आदि भाव के अविर्भाव में जो सहकारी कारण निर्वेद आदि होते हैं उन्हें व्यभिचारी अथवा सञ्चारी भाव कहा जाता है।

इस प्रकार सहृदय जनों के हृदय में रति आदि भाव सूक्ष्मसंस्कारों के रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। आलम्बन विभाव के द्वारा वह अस्थायी भाव आविर्भूत हो जाता है। उद्दीपन विभाव के द्वारा वह प्रदीप्त होकर अनुभावों के माध्यम से प्रतीति योग्य हो जाता है तथा व्यभिचारीभाव उन्हें परिपुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से स्थायीभाव व्यञ्जना-वृत्ति से आस्वादन योग्य हो जाते हैं। इसे ही आचार्यों ने रस कहा है।

प्रश्न-2 अनुमितिवाद के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- आचार्य मम्मट ने भरतमुनि के द्वारा नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की रस-सूत्र सम्बन्धी विचारों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

भरतमुनि के रससूत्र पर भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि प्रमुख आचार्यों ये व्याख्याएँ साहित्यशास्त्र में क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आचार्य शङ्कुक का 'अनुमितिवाद' भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्याओं में द्वितीय है। इसके अनुसार विभाव आदि के द्वारा अनुमेय-अनुमापक रूप सम्बन्ध से स्थायी रूप रस की नट में अनुमिति होती है। इसी कारण इसे 'रसानुमितिवाद' भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त में सहृदय की रसानुभूति में चार सोपान हैं-

प्रथम स्तर में नट में राम की प्रतीति होती है। जिस प्रकार चित्राङ्कित अश्व में बालकों को 'यह घोड़ा है' ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सहृदय को भी नट में 'यह राम है ऐसी प्रतीति हो जाती है। नट में राम की यह प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है, जो सम्यक, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य नामक चतुर्विध प्रतीति से विलक्षण है। सम्यक् ज्ञान में 'राम एवायम्' अथवा 'अयमेव रामः', मिथ्या प्रतीति तब होती है जब प्रथमतया 'रामऽयम्' यह ज्ञान हो जाता है तदनन्तर 'न रामोऽयम्' इस ज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध हो जाता है। पुनश्च संशय वहाँ होता है जहाँ 'रामो वा तद्भिन्नों वा' इस प्रकार का ज्ञान होता है एवं सादृश्य ज्ञान वहाँ होता है जहाँ 'रामसदृशोऽयम्' ऐसा ज्ञान होता है। किन्तु 'रामोऽयम्' यह ज्ञान उपर्युक्त चारों ही प्रतीतियों से भिन्न है।

द्वितीय स्तर में कारण कार्य सहकारी में विभावादि का व्यपदेश होता है। अर्थात् नट शृंगारादि रस के काव्य का पाठ करता है तथा सहृदय को उनकी साक्षात् अनुभूति होती है। नट अपने अभिनय कौशल से नायकगत रति आदि भाव के कारण (नायिका आदि) कार्य (भुजाक्षेप आदि) सहकारी (निर्वेद आदि) को प्रकट करता है। वस्तुतः यह सभी कृत्रिम होते हैं तथापि सामाजिक को यह वास्तविक ही प्रतीत होते हैं।

तृतीय स्तर में विभावादि द्वारा नट में स्थायी रति आदि का अनुमान होता है। जहाँ- जहाँ विभाव आदि भाव होते हैं वहाँ-वहाँ रति आदि भाव अवश्य होता है, इस प्रकार के व्याप्ति सम्बन्ध से विभावादि के द्वारा नट में रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है।

TESLA

चतुर्थ स्तर में सामाजिकों द्वारा रसानुभूति होती है। वस्तुतः यहाँ अविद्यमान रति आदि भाव का अनुमान किया जाता है। यह अनुमीयमान रति आदि भाव सौन्दर्यवान वस्तु होने से आस्वादनीय है। जबकि कलात्मक होने से अन्य अनुमित वस्तुओं की अपेक्षा यह विलक्षण है। इसी हेतु सामाजिकगण अपने वासना-प्रवाह के द्वारा इसका आस्वादन करते हैं। इसे ही रस कहा जाता है। सारांशतः जैसे कुहरा से ढके प्रदेश में धूम की भ्रान्ति से होने वाले धूमव्याप्य अग्नि का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार नट द्वारा स्वकौशल से 'ये विभावादि मेरे हैं। इस प्रकार प्रकट हुए, वस्तुतः अविद्यमान विभावादि से व्याप्य रति आदि का अनुमान हो जाता है। इस अनुमीयमान रति का अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों द्वारा आस्वादन किया जाता है। यही रसरूप कही जाती है और यही शकुक का 'रसानुमितिवाद' है।

किन्तु यह मत सामाजिक में साक्षात् रसानुभूति के अभाव में युक्तियुक्त नहीं माना जाता है। क्योंकि रस की साक्षात् अनुभूति होती है ऐसा अनुभवसिद्ध है। दूसरे यहाँ अनुमिति के हेतु आदि सभी कल्पित हैं तथा नट में इसकी सम्भावना मात्र है। यदि उसमें इसकी अनुमिति मान भी ली जाए तो भी सहृदय के लिए यह चमत्काराधायक नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति ही चमत्कारोत्पादक होती है। अत एव शङ्कुक का मत भरतमुनि के रससूत्र की समुचित व्याख्या कर पाने में समर्थ नहीं है।

प्रश्न-3 भट्टनायक के भुक्तिवाद की समीक्षा कीजिए।

उत्तर'- भरतमुनि के रससूत्र के तीसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टनायक हैं। उनके मत में विभावादि के द्वारा भोज्यभोजक रूप सम्बन्ध से सामाजिक को रस का भोग या आस्वादन होता है। इसी कारण इसे 'भुक्तिवाद' कहा जाता है। भट्टनायक अपने मत की स्थापना के पूर्व उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद की आलोचना करते हुए इनका खण्डन करते हैं।

भट्टनायक के मतानुसार अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले तीन प्रकार के व्यक्ति हैं – प्रथम अनुकार्य (नायक, रामादि), द्वितीय अनुकर्ता (नट) तथा तृतीय सामाजिक। रसानुभूति का विशेष सम्बन्ध सामाजिक से ही है। अतः शेष नायक तथा नट उदासीन कहे गए हैं। ताटस्थ्येन रसानुभूति नहीं हो सकती है, अर्थात् नायक अथवा नट में रस की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि अभिनय काल में रामादि नायक विद्यमान नहीं रहते हैं। अतः उसमें रस अथवा स्थायी भावों की प्रतीति कैसे सम्भव है। पुनश्च कल्पित विभावादि से नट में भी रति आदि भावों की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि अनुमान द्वारा असत् पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। साथ ही सीतादि विभावों के भी वास्तविक न होने से ये भी रत्यादि की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकते। सामाजिक के हृदय में भी रस की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि विभावादि का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक अभिव्यक्ति की बात है तो स्थायीभाव रूपी रस की अभिव्यक्ति न तो नट में सम्भव है न ही सामाजिक में, क्योंकि अभिव्यक्ति सद् वस्तु की ही हो सकती है। जो विद्यमान नहीं उसकी व्यञ्जना सम्भव नहीं। इस प्रकार रस की उत्पत्ति, अनुमिति तथा अभिव्यक्ति होना सम्भव नहीं है अपितु इसका भोग ही हो सकता है।

भट्टनायक रस-भोग की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नाट्य, काव्य आदि में अभिधा तथा लक्षणा वृत्ति से भिन्न एक विलक्षण शक्ति होती है, जिसे भावना अथवा भावकत्व व्यापार कहा गया है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा लौकिक कारण-कार्य तथा सहकारी का

TESLA

साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात् विभावादि साधारण रूप से व्यक्तिमात्र के साथ सम्बद्ध प्रतीत होने लगते हैं। इन विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा रति आदि स्थायी भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है और ये भी कल्पना से उन्मुक्त सामान्य रूप में भासित होने लगते हैं। तभी सहृदय जनों को रसभोग होता है।

संक्षेप में काव्य तथा नाट्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भी भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापार होता है। काव्यार्थ बोध के अनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा सीता आदि रूप विभाव तथा नायकगत रति का साधारणीकरण हो जाता है और सहृदय को भोजकत्व व्यापार के द्वारा उसका आस्वादन होता है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद का यह सिद्धान्त यद्यपि आधुनिक युग में स्वीकृत नहीं है तथापि उनके साधारणीकरण के सिद्धान्त ने रस-सिद्धान्त को एक नई दिशा प्रदान की। काव्य आदि कलाओं मे रहने वाला विलक्षण व्यापार साधारणीकरण कहलाता है, जिसके माध्यम से विभावादि सामान्य रूप से सहृदय के समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं। विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रति आदि भाव का भी साधारणीकरण हो जाता है, अर्थात् राम आदि विषयक रति भाव सामान्य रूप से सामाजिक के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। इस साधारणीकरण के कारण को भट्टनायक 'भावकत्व व्यापार' कहते हैं। इस व्यापार के द्वारा साधारणी कृत 'रति' आदि स्थायी भाव का सामाजिकों द्वारा आस्वादन होता है। इस प्रकार सहृदय के हृदय में अविद्यमान रति आदि का आस्वादन भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापारों द्वारा प्रतिपादन कर भट्टनायक ने रस-भोग की अलौकिकता की ओर भी सङ्केत किया तथा रसाभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। यहाँ भावकत्व तथा भोजकत्व रूप व्यापारों की नवीन कल्पना के द्वारा सामाजिक में अविद्यमान रति आदि भावों का आस्वादन कहा गया है। तथापि रामादि के रतिभाव की सामाजिक को भावना नहीं हो सकती है, क्योंकि उसने इसका अनुभव नहीं किया है। यदि व्यञ्जना द्वारा सामाजिक के हृदय में रति आदि की भावना मानी जाए तो व्यञ्जना के द्वारा ही रसानुभूति भी हो जाएगी तब भावकत्व तथा भोजकत्व रूप व्यापारों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

प्रश्न-4 आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की व्याख्या कीजिए।

उत्तर- भरतमुनिकृत रससूत्र की सर्वमान्य व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को ही दिया जाता है। उनके मतानुसार स्थायी भावों का विभावादि के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव रूप संयोग होने से रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण उनका मत 'रसाभिव्यक्तिवाद' कहलाता है।

रससूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि लोक में प्रमदा अर्थात् उद्यानादि के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण सामाजिकों के हृदय में वासनारूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव हैं, जो काव्य तथा नाट्य में प्रमदा के ही द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। यही कारणत्वादि रूप को छोड़कर विभावना आदि व्यापार को करने के कारण अलौकिक विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होते हैं और ये विभाव 'ये मेरे हैं', 'ये शत्रु के हैं', 'ये उदासीन के हैं, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध की स्वीकृति अथवा 'ये मेरे नहीं हैं', 'ये शत्रु के नहीं हैं', 'ये उदासीन के नहीं हैं, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध का परिहार, इन दोनों ही व्यवस्था का निश्चय न होने पर सामान्य रूप से अभिव्यक्त होते हैं। यद्यपि यह स्थायी भाव एक सामाजिक के भीतर व्यक्तिगत प्रमाता के रूप में ही स्थित होता है। साधारण उपायों के बल से विभावादि उपायों से

TESLA

उस समय सीमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने के कारण आविर्भूत हुआ है, अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित असीमित प्रमातृ भाव वाले प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदय जनों को सामान्य रूप से अनुभूत होता है। यह रति आदि अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ भी आस्वाद मात्र स्वरूप वाला, विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला पाणक रस के समान आस्वाद्ययमान, साक्षात् प्रस्फुटित होता हुआ से समस्त अंगों में व्याप्त होकर अन्य सबको आवृत्त करता हुआ सा तथा ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता हुआ, अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला श्रृङ्गार आदि रस कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि रति आदि स्थायी भाव सामाजिक के हृदय में सूक्ष्म रूप से रहते हैं। जिनके हृदय में ये संस्कार जितने जागृत अवस्था में रहते हैं उन्हें रसानुभूति उतनी ही अधिक तथा स्पष्ट होती है। ये संस्कार उन्हीं सामाजिकों में जागृत अवस्था में रहते हैं, जिन्होंने उद्यान, ललनादि के द्वारा रति आदि की बारम्बार अनुमिति से उनमें निपुणता प्राप्त कर ली है, इन्हें ही रसिक कहा जाता है। ऐसे ही सहृदय सामाजिकों को काव्यादि में रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। जिन प्रमदा आदि के द्वारा सहृदयों के हृदय में रत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति होती हैं, उन्हें काव्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव कहा जाता है। यहाँ विभावना का अर्थ है रत्यादि में आस्वादनयोग्यता का आविर्भाव कराना और इनके कारणभूत ललना आदि को विभाव कहा जाता है, रत्यादि को अनुभव का विषय बनाने वाले अनुभाव, तथा विशेष रूप से रत्यादि भावों का सञ्चरण कराने वाले सञ्चारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। काव्य की इसी अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है।

वस्तुतः लोक में तीन प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं- कुछ का सम्बन्ध स्वयं से होता है, कुछ का सम्बन्ध शत्रु से तथा कुछ तटस्थ होती हैं। इन तीन प्रकार के सम्बन्धों की स्वीकृति अथवा निवृत्ति नहीं होती है, अपितु काव्य-नाट्य में कला की अलौकिकता के कारण एक विलक्षण प्रतीति होती है। इसी के द्वारा सहृदय के हृदय में रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हो जाया करती है और यह अभिव्यक्ति सम्भव होती है विभावादि के साधारणीकरण के द्वारा। रसास्वादन काल में प्रमाता के हृदय में भी एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का अभ्युदय होता है जिससे उसमें किसी अन्य ज्ञेय का सम्पर्क नहीं हो पाता है और वह प्रमाता असीम प्रमाता हो जाता है। इस अवस्था में रति आदि भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है, तब समस्त सहृदय जन इसका समान रूप से आस्वादन करते हैं। इस अवस्था में आस्वादन से भिन्न आस्वाद्य का अस्तित्व वहाँ नहीं रहता है। यहाँ आस्वादन अथवा चर्वणा तभी तक रहती है जब तक वहाँ विभावादि रहते हैं। विभावादि के अभाव में यहाँ आस्वादन नहीं होता है। साथ ही विभावादि की प्रतीति भी यहाँ पृथक्-पृथक् नहीं अपितु अखण्डात्मक रस के रूप में होती है। जैसे अनेक पदार्थों को मिला कर बनाया गये पेय पदार्थ का रस उसमें मिलाये गये सभी अवयवों से विलक्षण होता है। उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण अलौकिक रूप से ही रस का आस्वादन होता है। इसके फलस्वरूप चित्त एक अनूठी अवस्था को प्राप्त करता है जिसे चमत्कारावस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में सहृदय अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। इस आनन्द की उपमा ब्रह्मानन्द से की गई है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि रति आदि भाव सहृदय के हृदय में संस्कार रूप में रहते हैं। काव्य-नाट्य में कारणत्वादि को त्याग कर ललना आदि अलौकिक विभाव का रूप धारण कर

TESLA

लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव के रूप में प्रतीत होते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यञ्जना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित होते हैं। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहा जाता है। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने रससूत्र की अपनी व्याख्या में रस-सम्प्रदाय तथा ध्वनि-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत किया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **रससूत्र के प्रवर्तक आचार्य कौन हैं?**

   क. भामह ख. दण्डी **ग. भरत** घ. वामन

2. **काव्यप्रकाश में रससूत्र पर कितने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है?**

   क. 4 ख. 2 ग. 6 घ. 3

3. **विभाव कितने माने गए हैं?**

   क. 2 ख.5 ग. 6 घ. 8

4. **व्यभिचारी भाव कितने हैं?**

   क. 26 ख. 48 **ग. 33** घ. 16 .

5. **निम्नलिखित में से भाव के अन्तर्गत किसका प्रतिपादन है?**

   क. शृङ्गार ख. करुण **ग. निर्वेद** घ. वीभत्स

6. **अनुमितिवाद के प्रतिपादक आचार्य कौन हैं?**

   क. शङ्कुक ख. भट्टलोल्लट ग. भट्टनायक **घ. अभिनवगुप्त**

लघुउत्तरीय प्रश्न

संक्षिप्त टिप्पणी लिखें -

क. उत्पत्तिवाद ख. रसनिष्पत्ति ग. अनुकार्य घ. विभाव ङ. व्यभिचारी भाव

च. साधारणीकरण

TESLA

UTTAR PRADESH RAJARSHI TANDON OPEN UNIVERSITY

REGIONAL CENTRES AND THEIR RELATED DISTRICTS

DISTRICTS

1. Saharanpur
2. Muzaffarnagar
3. Baghpat
4. Bijnor
5. Meerut
6. Amroha (Jyotiba Fule Nagar)
7. Shamli
8. Gaziyabad
9. Noida (Gautam Buddh Nagar)
10. Hapur (Panchsheel Nagar)
11. Bulandshahr
12. Aligarh
13. Mathura
14. Hathras
15. Agra
16. Firozabad
17. Etah
18. Mainpuri
19. Kasganj
20. Sambhal (Bhim Nagar)
21. Rampur
22. Badaun
23. Bareilly
24. Shahjahanpur
25. Pilibhit
26. Moradabad
27. Kannauj
28. Etawah
29. Auraiya
30. Kanpur Dehat
31. Kanpur Nagar
32. Hamirpur
33. Unnao
34. Fatehpur
35. Farrukhabad
36. Jhansi
37. Mahoba
38. Lalitpur
39. Jalaun
40. Banda
41. Chitrakoot
42. Kaushambi
43. Prayagraj
44. Pratapgarh
45. Hardoi
46. Sitapur
47. Lucknow
48. Barabanki
49. Raebareli
50. Bahraich
51. Shravasti
52. Balrampur
53. Lakhimpur Kheri
54. Gonda
55. Ayodhya
56. Abmbedkar Nagar
57. Sultanpur
58. Amethi (CSJ Nagar)
59. Basti
60. Siddharth Nagar
61. Mahrajganj
62. Sant Kabir Nagar
63. Gorakhpur
64. Kushinagar
65. Deoria
66. Azamgarh
67. Mau
68. Baliya
69. Jaunpur
70. Sant Rabidas Nagar (Bhadohin)
71. Varanasi
72. Ghazipur
73. Mirzapur
74. Chndaluli
75. Sonbhadra

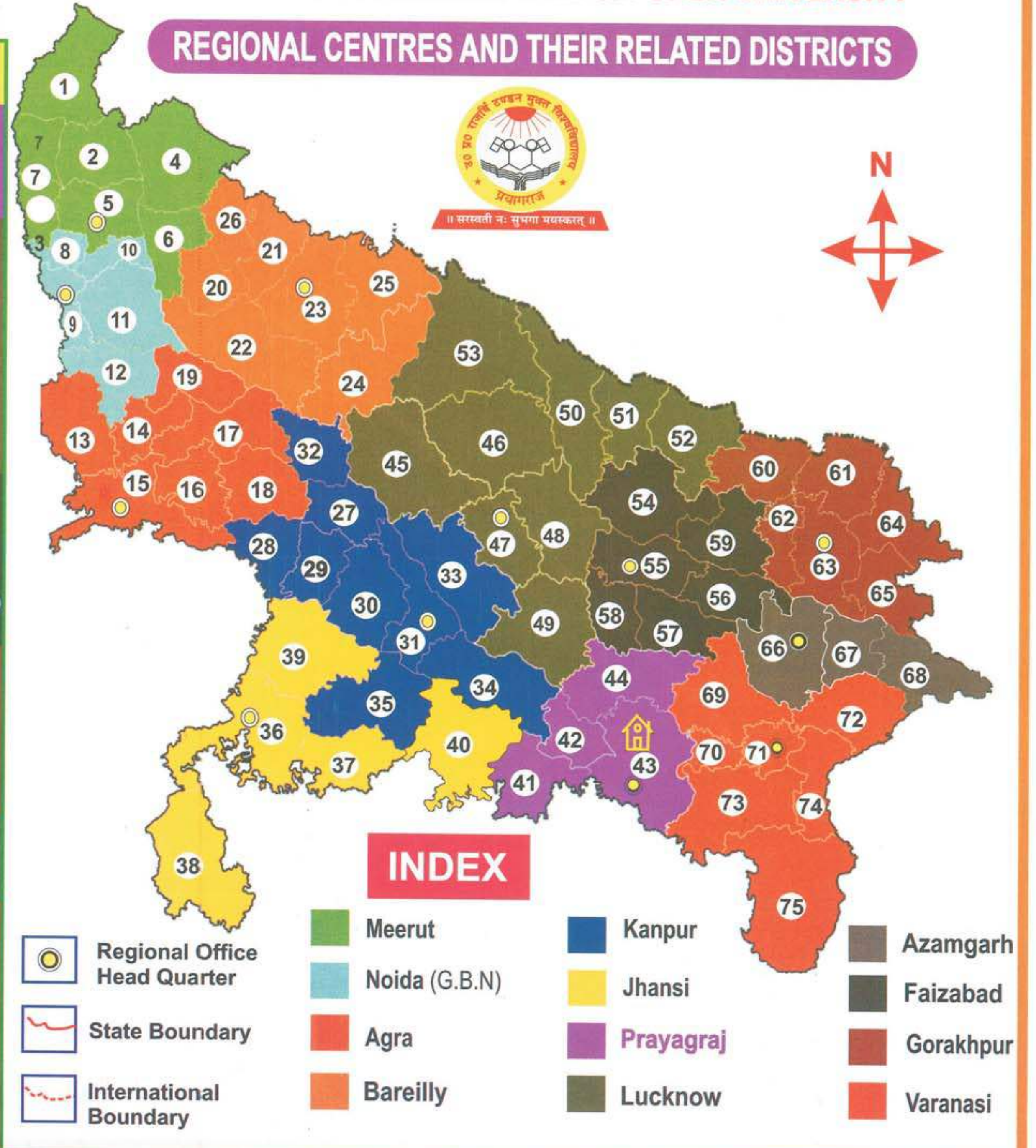

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

''अपने भाइयों को मैं सचेत करना चाहता हूँ कि मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायें। छोटी-छोटी सी बातों के लिए ही हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें।''

-राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333